समष्टिअर्थशास्त्र : एक परिचय

कक्षा 12 के लिए अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक

लेखक

सी. सेल्वराज

राहुल नीलकांतन

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
जून 2003
ज्येष्ठ 1925

PD 40T GR

ISBN : 81-7450-212-2

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस	108, 100 फीट रोड, होस्डेकेरे	नवजीवन ट्रस्ट भवन	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग	हेली एक्सटेंशन बनाशंकरी III इस्टेज	डाकघर नवजीवन	निकट : धनकल बस स्टॉप
नई दिल्ली 110 016	बैंगलूर 560 085	अहमदाबाद 380 014	पानिहाटी, कोलकाता 700 114

प्रकाशन सहयोग

संपादन : गोविंद राम
उत्पादन : अतुल सक्सेना
आवरण : अमित श्रीवास्तव

रु. 30.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा शगुन ऑफसेट, 132 मौहम्मदपुर, दिल्ली 110 066 द्वारा मुद्रित।

प्राक्कथन

समष्टिअर्थशास्त्र विषयक यह पुस्तक कक्षा XII के सत्र-IV के लिए नव रचित पुस्तक माला की चौथी और अन्तिम कड़ी है। इसकी रचना स्कूली शिक्षा विषय के राष्ट्रीय पाठ्यक्रम की रूपरेखा के आधार पर बने नए पाठ्यक्रम के अनुसार की गई है।

माध्यमिक स्तर तक तो अर्थशास्त्र को समाज शास्त्र विषय के अंतर्गत ही पढ़ाया जाता है। एक स्वतंत्र विषय के रूप में उच्चतर माध्यमिक स्तर पर ही इससे छात्र-छात्राओं का परिचय होता है। इसी स्तर पर विषय के विधिवत अध्ययन में इसकी अंतर्निहित दुरूहताओं की भी एक झलक सहज ही मिल जाती है इसी दृष्टि से अर्थशास्त्र के पाठ्यक्रम को छः-छः महीनों के चार सत्रों में विभाजित किया गया है। और प्रत्येक सत्र के लिए एक-एक पुस्तक की रचना की गई है। इस प्रकार ग्यारहवीं तथा बारहवीं कक्षाओं में दो-दो पुस्तकों का अध्ययन किया जाएगा।

पहले तीन सत्रों के लिए तीन पाठ्यपुस्तकें क्रमशः छात्रों को सांख्यिकीय विश्लेषण की आधारभूत संकल्पनाओं, भारतीय अर्थव्यवस्था से जुड़े मुद्दों और व्यष्टिअर्थशास्त्र के मूल सिद्धांतों की जानकारी दे रही हैं। अब चौथे सत्र की यह पुस्तक उन्हें समष्टिअर्थशास्त्र की मूलभूत अवधारणाओं से परिचित कराएगी। इस पुस्तक का ध्येय समग्र आय, उत्पादन, रोजगार स्तर, व्यय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से जुड़े विचारों को सामान्य केंजीय विश्लेषण विधि द्वारा प्रस्तुत करना है।

इस पुस्तक की रचना में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् को अनेक क्षेत्रों से सहयोग एवं योगदान प्राप्त हुआ है। मैं लेखकों का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी अनेक व्यस्तताओं के रहते हुए भी इस पाठ्यपुस्तक की रचना का दायित्व स्वीकार किया। साथ ही विभिन्न स्कूलों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों के अर्थशास्त्र शिक्षकों का भी मैं धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक की प्रकाशन पूर्व समीक्षा में भाग लेकर इसके स्वरूप को संवारने में योगदान दिया है।

पाठ्यक्रम और उस पर आधारित शिक्षण सामग्री का विकास-निर्माण तो एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया होती है। इस पुस्तक को और परिमार्जित करने की दृष्टि से आप सभी के सुझावों और टिप्पणियों का सदैव सहर्ष स्वागत रहेगा।

जगमोहन सिंह राजपूत
निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

अप्रैल, 2003
नई दिल्ली

प्रस्तावना

आर्थिक सिद्धांतों और विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण प्रशाखा समष्टिअर्थशास्त्र है। इसके महत्त्व का आधार यही है कि सारी अर्थव्यवस्था के संचलन से जुड़ी नीतियों की रचना इसी (समष्टिअर्थशास्त्र) की अवधारणाओं पर आधारित होती है। अतः समष्टिअर्थशास्त्र की विषय वस्तु का मूल सरोकार नीति निर्धारण से रहता है। चाहे प्रतिष्ठित, केंजीय या केंजतर, किसी भी समष्टि विश्लेषण धारा पर विचार कर देखें– प्रत्येक का आधार किसी न किसी समष्टिअर्थशास्त्रीय घटना क्रम को सुधारने या नियंत्रित करने के लिए सरकारों द्वारा उठाए गए कदमों में ही सीमित दिखाई देता है।

यह पुस्तक छात्रों की दृष्टि से समष्टिअर्थशास्त्र की प्राथमिक या परिचयात्मक पुस्तक होगी। उच्चतर माध्यमिक स्तर की कक्षा 12 के लिए लिखी गई इस पुस्तक के कलेवर को केंजीय अर्थविश्लेषण के सामान्य स्वरूप तक ही सीमित रखा गया है। पाठ्यक्रम की प्रत्येक इकाई को एक अध्याय का रूप दिया गया है जिससे कि सभी संबद्ध सिद्धांतों को स्पष्टतः समझ पाने में सरलता रहे। इसी दृष्टि से आवश्यकतानुसार बॉक्स, व्याख्यात्मक पाद् टिप्पणियों, रेखाचित्रों और आंकड़ों पर आधारित उदाहरणों का सहारा भी लिया गया है।

कितनी ही ऐसी व्याख्याएं और होती हैं जिन्हें जान लेना शिक्षार्थियों के लिए उपयोगी रहता है किन्तु पाठ्यक्रम की सीमाओं के कारण उन्हें हम विभिन्न अध्यायों से समाहित नहीं कर पाए हैं। इन अतिरिक्त जानकारियों को एकत्र कर हमने कुछ परिशिष्टों की रचना भी की है। ये परिशिष्ट पाठकों को अतिरिक्त जानकारी प्रदान करते हैं और जिज्ञासु विद्यार्थीगण इनसे लाभान्वित हो सकते हैं। फिर भी हमारी व्याख्या शैली ऐसी है कि इन्हें पढ़े बिना भी मुख्य अध्यायमाला के पठन–पाठन में कोई कठिनाई नहीं आएगी। एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है: इन परिशिष्टों की सामग्री परीक्षाओं के लिए प्रयोग नहीं की जाएगी–ये केवल अतिरिक्त जानकारी के लिए ही पुस्तक में सम्मिलित की गई हैं।

समष्टिअर्थशास्त्र की इस पुस्तक में विषय–प्रवेश सहित 10 अध्याय हैं। हम विषयवस्तु का प्रतिपादन **अर्थव्यवस्था की समष्टिवाची संरचना** की व्याख्या से प्रारंभ करेंगे। इससे विभिन्न आर्थिक इकाइयों और अभिकर्ताओं के पारस्परिक संबंधों का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। चक्रीय प्रवाहों के चित्र यह स्पष्ट कर देते हैं कि सारी व्यवस्था में आर्थिक संबंध सूत्र किस प्रकार गुंथे हुए हैं। इसी जानकारी के आधार पर हम **राष्ट्रीय आय लेखांकन की प्रविधियों** का प्रयोग कर आर्थिक गतिविधियों के मापन आंकलन का प्रयास करेंगे। इसके बाद **आय और उत्पादन स्तर निर्धारण** की सरल सैद्धांतिक रूपरेखा की व्याख्या की जाएगी। इसी संदर्भ में समग्र मांग एवं आपूर्ति के साथ-साथ मांग आधिक्य और मांग–अभाव की समस्याओं की व्याख्या और उनसे निपटने के लिए उपयुक्त नीतियों आदि पर भी विचार किया जाएगा।

सभी आर्थिक गतिविधियाँ अंततः किसी न किसी लेन-देन में परिणित हो जाती हैं और ये विनिमय की प्रक्रिया मौद्रिक एवं बैंक व्यवस्था के सहारे बहुत ही सुचारू रूप से चलती रहती हैं। इसीलिए हमारी **मुद्रा और बैंक व्यवस्था** से जुड़ी इकाई में मुद्रा के कार्यों और बैंक व्यवस्था की कार्य पद्धति पर विस्तार से विचार किया गया है। सारी ही अर्थव्यवस्था पर सरकार के बजट का गहन प्रभाव रहता है। इसीलिए हम **सरकारी बजट और अर्थव्यवस्था** विषयक अध्याय में संसाधन जुटाने और *आबंटित करने के एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में बजट की उपादेयता* पर विचार कर रहे हैं। विश्वव्यापी व्यापार व्यवस्था के किसी देश की अर्थव्यवस्था पर प्रभावों की समीक्षा करने से पूर्व **विदेशी विनिमय** दर तथा **भुगतान शेष** की अवधारणाओं को समझ लेना बहुत आवश्यक रहता है। इन्हीं पर हम अन्तिम दो अध्यायों में चर्चा कर रहे हैं।

पहली बार अर्थशास्त्र पढ़ने वाले विद्यार्थियों के लिए रचित ऐसी पाठ्यपुस्तक में अनेक सिद्धांतों और अवधारणाओं के अति-सरलीकरण से बच पाना संहज नहीं होता। इसी दृष्टि से पुस्तक में विभिन्न विचारों आदि की प्रस्तुति में कदाचित 'संपूर्णता' के अभाव की झलक अवश्य दिखाई देगी, किंतु सभी अवधारणाओं को तकनीकी दृष्टि से विशुद्ध स्वरूप में प्रस्तुत करने से वे विद्यार्थियों की दृष्टि से बहुत जटिल हो जातीं। इसीलिए हमारा ध्येय यही रहा है कि विद्यार्थियों को अवधारणाओं की जटिलता से बचाए रखते हुए भी उन्हें उन विचारों के 'सत्त्व' (निचोड़) से अवश्य परिचित करा दिया जाए। इसीलिए हमने बार-बार आंकड़ों पर आधारित उदाहरणों का भी प्रयोग किया है।

हमारे लेखन और अभिव्यक्ति पर समीक्षा कार्यशाला में मिली टिप्पणियों और सुझावों का भी प्रभाव रहा है। हम कार्यशाला के सभी भागीदारों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। उनके विचारों से हम निश्चित ही लाभान्वित हुए हैं। फिर भी, पुस्तक में रह गई किसी भी त्रुटि के लिए संपूर्ण दायित्व हमारा ही होगा।

हमारे पास अपने मान्यवर आचार्य डॉ.सी.टी.कुरियन, अध्यक्ष, मद्रास इंस्टीट्यूट ऑफ डेवेल्पमैंट स्टडीज, चैन्नई का आभार व्यक्त कर पाने का शब्द सामर्थ्य ही नहीं है। इन्होंने इस पुस्तक की सारी सामग्री को पढ़कर उसे छात्रों की दृष्टि से सरल, रोचक और उपयोगी बनाने के लिए जो सुझाव दिए हैं उनके अभाव में इस रचना का वर्तमान स्वरूप संभव ही नहीं हो पाता।

सी. सेल्वराज
राहुल नीलकांतन

पाठ्यपुस्तक समीक्षा-कार्यगोष्ठी के सदस्य

सी. सेल्वराज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
अर्थशास्त्र विभाग
मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज
ईस्ट तम्बरम, चैन्नई

राहुल नीलकांतन
प्रवक्ता, अर्थशास्त्र
मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज
ईस्ट तम्बरम, चैन्नई

कांता जोशी
स्नातकोत्तर शिक्षिका (अर्थशास्त्र)
रा.क.वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय-2
किदवई नगर, नई दिल्ली

ए.एस.गर्ग
उपप्रधानाचार्य
राजकीय प्रतिभा विकास विद्यालय
सूरजमल विहार, दिल्ली-110092

भवानी शंकर बागला (अनुवादक)
प्रवाचक, अर्थशास्त्र विभाग
पी.जी.डी.ए.वी.महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

एन.सी.ई.आर.टी. संकाय
एम.वी. श्रीनिवासन (**समन्वयक**)
प्रवक्ता
सा.वि.मा.शि.वि.

गांधी जी का जंतर

तुम्हें एक जन्तर देता हूं। जब भी तुम्हें सन्देह हो या तुम्हारा अहम् तुम पर हावी होने लगे, तो यह कसौटी आजमाओ :

जो सबसे गरीब और कमजोर आदमी तुमने देखा हो, उसकी शकल याद करो और अपने दिल से पूछो कि जो कदम उठाने का तुम विचार कर रहे हो, वह उस आदमी के लिए कितना उपयोगी होगा। क्या उससे उसे कुछ लाभ पहुंचेगा ? क्या उससे वह अपने ही जीवन और भाग्य पर कुछ काबू रख सकेगा ? यानि क्या उससे उन करोड़ों लोगों को स्वराज्य मिल सकेगा जिनके पेट भूखे हैं और आतमा अतृप्त है ?

तब तुम देखोगे कि तुम्हारा सन्देह मिट रहा है और अहम् समाप्त होता जा रहा है।

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51क

मूल कर्तव्य – भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे,

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों,

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे,

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे,

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे, और

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊंचाइयों को छू सके।

विषय सूची

विषय-प्रवेश

अध्याय 1

समष्टिअर्थशास्त्र : एक परिचय

किसी परिवार या फर्म के सभी आर्थिक निर्णय बाज़ार की परिस्थितियों के अनुरूप युक्तियुक्त अथवा विवेकपूर्ण व्यवहार की कसौटियों पर आधारित रहते है। ऐसी अवस्था में उपभोग और उत्पादन के तर्कशास्त्र के अध्ययन के हमारे प्रयास गृहस्थों और उत्पादकों के वरीयताक्रमों एवं चयनों के निर्धारकों के विश्लेषण तक ही सीमित रहते हैं। आर्थिक इकाइयों की वैयक्तिक-स्तरीय निर्णय प्रक्रिया को इस प्रकार समझ लेना उनके समग्र आर्थिक व्यवहार की समीक्षा के लिए बहुत आवश्यक तो अवश्य है किंतु अपने आप में पर्याप्त नहीं रहता। हमें किसी अन्य स्तर पर सारी अर्थव्यवस्था में व्याप्त सामान्य आर्थिक दशाओं पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि व्यापक परिस्थितियां व्यक्तिगत स्तर पर प्रत्येक फर्म और प्रत्येक परिवार के व्यवहार को भी अवश्य प्रभावित करती हैं। आर्थिक इकाइयों के वैयक्तिक स्तरीय व्यवहार का अध्ययन व्यष्टिअर्थशास्त्र की विषय-वस्तु का निर्धारण करता है तो व्यापक स्तर पर अर्थव्यवस्था के समग्र व्यवहार का विश्लेषण समष्टिअर्थशास्त्र कहलाता है।

सीधे से शब्दों में यदि पूछा जाए कि समष्टिअर्थशास्त्र किसे कहते हैं तो इसका उत्तर यही होगा कि अर्थशास्त्र की वह प्रशाखा जिसके अंतर्गत समूची अर्थव्यवस्था के समग्र स्तरीय व्यवहार का अध्ययन किया जाता है उसे समष्टीअर्थशास्त्र का नाम दिया जाता है। प्राय: सभी को यह जानने की उत्सुकता होती है कि अर्थव्यवस्था में क्या हो रहा है। संभवत: यह उत्सुकता किसी न किसी रूप में कीमतों के उतार-चढ़ाव, बेरोजगारी के स्तर, कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन में कमी, व्यावसायिक गतिविधियों के उच्चावचन, विदेशी मुद्रा भण्डारों में परिवर्तन, पूंजी बाजार के घटना क्रम और विश्व बाज़ार में मंदी आदि की आशंकाओं से जुड़ी होती है।

इस प्रकार की समष्टिस्तरीय घटनाओं की ओर सरकारों, अर्थशास्त्रियों, व्यवसायियों के साथ-साथ जन सामान्य का भी ध्यान लगा रहता है- क्योंकि इनमें से कोई भी इन घटनाओं के प्रभावों से अछूता नहीं रहता। अर्थतंत्र के समग्रवाची निष्पादन की निर्धारक शक्तियों को ठीक से समझ पाने के लिए हमें वर्ष भर की अवधि में निष्पादन का आकलन करने के लिए उचित अवधारणाओं, सैद्धांतिक विचार-सूत्रों तथा परिमाण-आधारित मापकों की आवश्यकता होगी। समष्टिअर्थशास्त्र के अंतर्गत हम इन्हीं की रचना और समीक्षा करते हैं।

आपको ध्यान होगा कि व्यष्टिअर्थशास्त्र में प्रयुक्त कीमत, लाभ, लागत, और उत्पादन व उपभोग की मात्रा आदि के विचार बहुत स्पष्ट और सहज ही समझ में आने वाले थे। किंतु इसके विपरीत

समष्टिअर्थशास्त्र की अवधारणाएं प्राय: इतनी स्पष्ट और बोधगम्य नहीं होतीं। आपको सेबों की एक टोकरी की कीमत और उसमें भरे सेबों के भार आदि को जानने समझने में कोई कठिनाई नहीं आई होगी। किंतु समष्टिअर्थशास्त्र में तो अवधारणाओं की परिभाषा के स्तर पर भी अनेक प्रकार की समस्याओं से सामना हो जाता है। किसी व्यक्ति की आय परिभाषा और गणना तो बड़ी आसानी से हो जाती है किंतु समाज के समग्र उत्पादन और आय की गणना इतनी सहज नहीं रहती। आइए, हम व्यष्टिअर्थशास्त्र से भेद करते हुए समष्टिअर्थशास्त्र के स्वरूप को सटीक रूप से समझने का प्रयास करें।

व्यष्टिअर्थशास्त्र बनाम समष्टिअर्थशास्त्र

व्यष्टिअर्थशास्त्र में हम एक परिवार, एक उत्पादक (फर्म) या फिर फर्मो के छोटे समूहों के व्यवहार का अध्ययन करते हैं। जबतक हम एक वाहन निर्माता या केवल वाहन उद्योग की बात कर रहे हों हम व्यष्टिअर्थशास्त्र की परिधि में ही रहेंगे। परंतु सारे विनिर्माण उद्योग की चर्चा हमें समष्टिअर्थशास्त्र के प्रभाव क्षेत्र में खींच ले जाएगी। इस दृष्टि से समष्टिअर्थशास्त्र किसी अर्थव्यवस्था के समुच्चयवाची घटकों का अध्ययन बन जाता है । जो बात वैयक्तिक स्तर पर सत्य हो उसका समुच्चय स्तर पर भी उसी रूप में मान्य होना सदैव आवश्यक नहीं होता। इसी कारण से आर्थिक समूहों का समुच्चय स्तर पर अलग से अध्ययन मनन करना आवश्यक हो जाता है।

गेहूँ के एक अकेले किसान का उदाहरण लें। व्यक्ति-स्तरीय तर्कशास्त्र तो यही सुझायेगा कि यह किसान जितना अधिक उत्पादन करेगा उतना ही अधिक कमा पाएगा। एक व्यक्ति की दृष्टि से यह विचार पूरी तरह से विवेकशील प्रतीत होता है। किंतु यदि अर्थव्यवस्था के सभी किसान इसी तर्क का सहारा लेकर अपने-अपने खेतों में गेहूँ के उत्पादन को उच्चतम संभव स्तर पर ले जाएं तो क्या परिणाम होगा? निश्चित रूप से अर्थव्यवस्था में इसके कारण सभी किसानों का भला होने के स्थान पर कुछ नई समस्याएं ही पैदा हो जाएंगी। बाज़ार मांग की तुलना में गेहूँ की आपूर्ति बहुत अधिक होगी। कहीं गेहूँ के दाम इतने कम नहीं हो जाएं कि किसानों की लागतों की भरपाई भी न हो पाए। इसलिए भारत सरकार को बाजार में आए गेहूँ के उत्पादन का एक बहुत बड़ा हिस्सा खरीदने का निर्णय लेना पड़ सकता है । अत: स्पष्ट है कि जो बात वैयक्तिक स्तर पर बहुत अच्छी और उचित प्रतीत हो रही हो उसका सामूहिक स्तर पर भी उसी स्वरूप में व्यवहारिक सिद्ध होना आवश्यक नहीं होता। यही अंतर आर्थिक समुच्चयों के सामूहिक स्तर पर अध्ययन की आवश्यकता को सिद्ध करता है। इसी अध्ययन का नाम समष्टिअर्थशास्त्र होता है।

हमें अर्थव्यवस्था के स्तर पर कुल रोज़गार, सकल उत्पादन, आय आदि के समुच्चयकारी आंकड़े मिल जाते हैं। उनके पारस्परिक संबंधों को समझना भी आवश्यक होता है। क्या राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि का अर्थ समग्र रोज़गार स्तर में सुधार भी होगा? क्या हम अपने रुपये की विदेशी मुद्रा से विनिमय दर को आंतरिक कीमत स्तर से जोड़कर निर्धारण कर सकते हैं? सारी अर्थव्यवस्था की कार्य पद्धति को भलीभांति समझ पाने के लिए हमें सभी समुच्चयों के अंतर्संबंधों का व्यवस्थित रूप से निरूपण कर उन्हें समझना होगा। अत: हम समष्टिअर्थशास्त्र को समुच्चयों के अंतर्संबंधों के अध्ययन का नाम भी दे सकते है। मूलत: समष्टिअर्थशास्त्र का सरोकार सकल उत्पादन, समग्र रोज़गार, और सभी वस्तुओं एवं सेवाओं पर किए गए समग्र व्यय से रहता है।

इसके विपरीत व्यष्टिअर्थशास्त्र में तो हमारी चर्चा प्राय: एक फर्म के उत्पादन या किसी एक उपभोक्ता

परिवार के किसी वस्तु पर व्यय संबंधी निर्णय तक ही सीमित रह जाती है। दूसरे शब्दों में, व्यष्टिअर्थशास्त्र एक फर्म या एक परिवार द्वारा संसाधनों के आबंटन से जुड़ा होता है।

व्यष्टि स्तर पर हम अनेक कारकों के स्तर को पूर्व निर्धारित मान कर अपना विचार क्रम प्रारंभ करते हैं। उनका स्तर हम स्थिर मानते हैं। किंतु समष्टिअर्थशास्त्र में वे सभी कारक भी 'चर' हो जाते हैं। उनके आकार एवं मूल्यमान का भी निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है। इसके विपरीत अनेक व्यष्टिस्तरीय 'चर' समष्टि स्तर पर 'स्थिर' मान लिए जाते हैं। आइए, उपर्युक्त दोनों ही कथनों के उदाहरणों पर ध्यान दें: व्यष्टिस्तर पर अर्थव्यवस्था का समग्र उत्पादन स्थिर मानकर एक फर्म या एक परिवार के व्यवहार पर ध्यान दिया जाता है किंतु समष्टि स्तर पर हम उसी समग्र उत्पादन के स्तर को निर्धारित करने की समस्या पर विचार करते हैं – वहाँ ये स्थिर नहीं रह पाता। इसी प्रकार समष्टि अध्ययन में समग्र उत्पादन के विभिन्न परिवारों या संसाधनों के बीच आबंटन को स्थिर माना जा सकता है किंतु व्यष्टिअर्थशास्त्र में इस आबंटन का निर्धारण एक बहुत आवश्यक कार्य हो जाता है।

अब गेहूँ उत्पादन के लिए किसान की ही बात लें। उसे गेहूँ के समग्र उत्पादन से कुछ लेना-देना नहीं होता। उसकी दृष्टि से तो उसके अपने खेत में हुआ उत्पादन ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहता है। इसी प्रकार जब सरकार नई फ़सल आने पर गेहूँ की खरीदारी करना प्रारंभ करती है तो उसकी दृष्टि बाज़ार में आ रही समग्र आपूर्ति पर ही केंद्रित रहती है। कौन किसान कितना गेहूँ बाज़ार में ला रहा है, यह बात सरकार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होती। यही बातें एक औद्योगिक उत्पादक एवं विनिर्माण क्षेत्र के समग्र उत्पादन पर भी लागू होती हैं (हाँ एक अंतर अवश्य रहता है: सरकार विनिर्माण क्षेत्र के अतिरिक्त उत्पादन की सामान्यतः खरीदारी कर [illegible] नहीं करती)।

हमारे उपर्युक्त विवरण से कदाचित् ऐसी धारणा बनने लगती है कि समष्टि और व्यष्टि अर्थशास्त्र दो पूर्णतः पृथक्कीकृत विषय हैं, किंतु व्यवहार में सदैव ऐसा नहीं होता। आर्थिक विश्लेषण के ये दोनों स्तर परस्पर अंतर्निर्भर होते हैं। वास्तव में हम समूची अर्थव्यवस्था की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आर्थिक इकाईयों के वैयक्तिक व्यवहार की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं।

हमारे उपर्युक्त कथन का अभिप्राय: होगा कि किसी इकाई द्वारा व्यष्टिस्तर पर लिए गए प्रत्येक निर्णय का कोई न कोई समष्टिस्तरीय संदर्भ या आयाम अवश्य होता है। परिवारों की उपभोग योजनाएं वैयक्तिक आय तथा वस्तुओं आदि पर लगने वाले करों से अप्रभावित नहीं रह पातीं। इसी प्रकार व्यष्टिस्तरीय कारकों के समष्टिअर्थशास्त्रीय 'चरों' पर बहुत गहन प्रभाव हो सकते हैं। उदाहरण के लिए समाज में समग्र बचतों और निवेश का निर्धारण मुख्यतः वैयक्तिक स्तर पर परिवारों द्वारा की गई बचतों और फर्मों द्वारा किए गए निवेश के योगफल से ही होता है। अतः व्यष्टि एवं समष्टिस्तरीय आर्थिक विश्लेषणों को पूर्णतः पृथक्कीकृत या स्वतंत्र मानना उचित नहीं होगा। वास्तव में एक विश्लेषण विधा उन आयामों पर ध्यान केंद्रित करती है जिन पर दूसरी में ध्यान नहीं दिया जाता। जहां व्यष्टिअर्थशास्त्र का सारा ध्यान कीमत *प्रणाली और संसाधनों के आबंटन पर केंद्रित रहता है वहीं समष्टिअर्थशास्त्र का चिंतन समग्र आय के स्तर के निर्धारण तथा अर्थव्यवस्था में स्थायित्व पूर्ण संवृद्धि की समस्याओं पर केंद्रित रहता है।* इस प्रकार अर्थशास्त्र की इन दो प्रमुख प्रशाखाओं के अंतर्संबंध स्पष्ट हो जाते हैं।

अर्थशास्त्री किस प्रशाखा को प्राथमिकता देते हैं और किस पर कम ध्यान देते हैं यह तो इसी पर निर्भर करता है कि हमें उस समय विशेष में 'समग्र' का

अध्ययन करना है अथवा उसके किसी अंश या 'घटक' का । बाज़ार में मांग और आपूर्ति की शक्तियों के अध्ययन के संदर्भ में आर्थिक व्यवहार में वैयक्तिक विवेकशीलता का महत्त्व अधिक रहता है। दूसरी और समस्त अर्थव्यवस्था के निष्पादन में उच्चावचनों को नियमित रखते हुए उसे उच्च संवृद्धि के मार्ग पर अग्रसर बनाने के ध्येय से उचित नीतियों की रचना करने में समष्टि विश्लेषण का अपना महत्त्व स्वयंसिद्ध-सा प्रतीत होता है।

समष्टिअर्थशास्त्र का प्रादुर्भाव

समष्टिस्तरीय आर्थिक चिंतन में अर्थशास्त्रियों की रुचि वास्तव में 'केंजीय क्रांति' के बाद ही जागृत हुई है।[1] केंजपूर्व के आर्थिक चिंतन में किसी 'आर्थिक संकट' की संभावना को भी स्वीकार नही किया जाता था। इसका कारण यही था कि उस समय तक प्रचलित प्रतिष्ठित विचार धारा में अर्थव्यवस्था में किसी बड़े व्यापक व्यवधान की व्याख्या की कोई व्यवस्था नहीं थी। उन का विचार था कि बाज़ार व्यवस्था में 'स्वचालित समंजन' की क्षमता है और इसी कारण सारी अर्थव्यवस्था सदैव संतुलन में ही रहेगी। यदि कभी कोई व्यवधान पैदा हुआ तो वह अस्थायी होगा- शीघ्र ही बाजार की समंजन प्रक्रिया उस व्यवधान का निदान कर लेगी। किंतु 1929 की औद्योगिक विश्व की व्यापक मंदी ने इस प्रतिष्ठित विचारधारा की वैधता को लेकर कई प्रश्न खड़े कर दिए। बाज़ार व्यवस्था अपने आप उस संकट का निदान कर पाने में नितांत असमर्थ रही। इसी असमर्थता से केंजीय सिद्धांत के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। आज के युग में समष्टिस्तरीय आर्थिक विश्लेषण का आरंभ इसी (केंजीय) सिद्धांत से होता है। नीति-निर्धारण में भी इस विश्लेषण का बहुत व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जाता है। केंज के योगदान के बाद भी समष्टिअर्थशास्त्र की विकास यात्रा निरंतर चल रही है। आज केंज का अनुसरण करने वाली अनेक 'केंजीय' विश्लेषण धाराएं विकसित हो चुकी हैं।

अब हम समग्र अर्थव्यवस्था की संरचना और कार्य पद्धति के प्रति केंजीय विचारों पर ध्यान केंद्रित रखते हुए समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन का शुभारंभ करने जा रहे हैं।

अभ्यास

1. व्यष्टिअर्थशास्त्र क्या है?
2. समष्टिअर्थशास्त्र से आप क्या समझते हैं?
3. [illegible] अर्थशास्त्र में भेद स्पष्ट करें।
4. समष्टिअर्थशास्त्रीय '[illegible]' के उदाहरण दीजिए।

---

[1] लार्ड मेनार्ड केंज की पुस्तक, '*जनरल थ्यौरी ऑफ एंप्लायमेंट, इंटेरेस्ट एंड मनी*' (मैकमिलन, लंदन, 1936) में उस समय तथा प्रचलित प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रीय धारा के समष्टिस्तरीय चिंतन के विषय में कई प्रकार के प्रश्न उठाए गए थे।

इकाई II

राष्ट्रीय आय और संबंधित समुच्चय : मूल अवधारणाएं एवं मापन

अध्याय 2

समष्टि अर्थव्यवस्था की रचना और राष्ट्रीय आय लेखांकन

पिछले अध्याय की चर्चा से यह तो आप जान ही चुके हैं कि समष्टिअर्थशास्त्र समग्र आय, उत्पादन, रोज़गार, व्यय, आयात-निर्यात आदि के रूप में अभिव्यक्त समुच्चयों के अध्ययन से जुड़ा है। किसी अर्थव्यवथा के वास्तविक निष्पादन स्तर के मूल्यांकन के लिए हमें इन समुच्चयों के मापन निर्धारण के लिए उपयुक्त विधियों की संरचना का अनुसरण करना होगा। तभी अंतत: इन समुच्चय रूपी मापकों के परिवर्तनों के आधार पर समष्टि स्तर पर आर्थिक व्यवहार की व्याख्या संभव हो पाएगी। राष्ट्रीय आय का लेखांकन अर्थव्यवस्था में इन समष्टि समुच्चयों के मापन में बहुत सहायक रहता है।

किसी भी आर्थिक इकाई के कार्यकलापों को जानने के लिए उसकी गतिविधियों का लेखांकन आवश्यक माना जाता है। प्रत्येक आर्थिक इकाई, चाहे परिवार हो या फर्म, किसी न किसी रूप में अपना लेखा अवश्य बनाती है, क्योंकि वह लेखा अवधि के अंत में अपनी वित्तीय स्थिति को जानने की बहुत इच्छुक रहती है।[1] बचत, निवेश, कर भुगतान आदि से जुड़े सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय करने के लिए आर्थिक इकाई उपर्युक्त लेखा जानकारी के विश्लेषण को आधार बनाती है।

समष्टि स्तर पर तो यह लेखांकन और भी अधिक महत्त्वशाली हो जाता है, क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर अर्थव्यवस्था के वर्ष भर के क्रिया-कलापों की समीक्षा भी की जाती है। इसी समीक्षा के आधार पर राष्ट्रीय सरकार जन सामान्य के भौतिक क्षेम वर्धन के लिए उपयुक्त नीतियों की रचना करती है। समुच्चय स्तर पर आय और उत्पादन के मापन की विधियों को संभव बनाना ही राष्ट्रीय आय लेखांकन का मूल ध्येय है। इस प्रकार हम आय लेखांकन के माध्यम से वर्ष विशेष में अर्थव्यवस्था की समष्टि स्तरीय गतिविधियों का ही मूल्यांकन कर लेते हैं।

समस्त अर्थव्यवस्था के समग्र उत्पादन और आय के समष्टि आर्थिक लेखांकन की तुलना में किसी एक आर्थिक इकाई के सभी लेन-देनों का लेखा तैयार करना तो बहुत ही साधारण-सा काम प्रतीत होता है। लेखे की दृष्टि से समष्टि 'चरों' के मूल्यमानों को निश्चित करने की प्रविधियां वास्तव में बहुत जटिलता भरी होती हैं। केवल समुच्यों को पृथक-पृथक रखना पर्याप्त नहीं रहता, उन्हें ठीक से मापने की विधियों को जानना भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसी कारण से राष्ट्रीय आय लेखांकन अपने आप में

---

[1] लेखा अवधि का कैलेंडर वर्ष से प्राय: तालमेल नहीं होता। अपने देश भारत में ही लेखा वर्ष वित्तीय वर्ष से समीकृत किया जाता है। हम जानते ही हैं कि यह वर्ष 1 अप्रैल से शुरू होकर अगले वर्ष 31 मार्च तक चलता है। जैसे कि 1 अप्रैल 2003 से 31 मार्च 2004 तक।

आर्थिक विश्लेषण की एक महत्त्वपूर्ण और स्वतंत्र प्रशाखा का रूप धारण कर चुका है।

राष्ट्रीय आय लेखांकन से दो प्रमुख कार्य संपन्न हो सकते हैं: एक कार्य तो देश की विशिष्ट आर्थिक उपलब्धियों की पहचान करना है तथा दूसरा, लागू की जा रही नीतियों के मूल्यांकन एवं समीक्षा के लिए एक युक्तिसंगत आधार की रचना करना। अतः राष्ट्रीय आय का लेखा-जोखा तैयार करने में हम केवल आर्थिक समुच्चयों को मापने का काम ही नहीं करते, बल्कि, साथ ही साथ हम अर्थव्यवस्था की कार्यपद्धति को जानने, विश्लेषित करने एवं उसकी व्याख्या करने के योग्य भी हो जाते है। यही कारण है कि समष्टिअर्थशास्त्र के अध्ययन का मार्ग राष्ट्रीय आय लेखांकन के गलियारों से होकर गुजरता है।

राष्ट्रीय आय लेखांकन के उपयोग

राष्ट्रीय आय लेखांकन के अनेक प्रमुख उपयोग है इन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है:

(1) इस लेखांकन द्वारा राष्ट्रीय आय के विभिन्न उत्पादक कारकों (संसाधानों) के बीच विभाजन की विधि समझाई जा सकती है।

(2) इस लेखांकन से बने आंकड़े समग्र आय में विभिन्न घटक क्षेत्रकों के योगदान और उनकी संवृद्धि की जानकारी प्राप्त होती है।

(3) यह लेखा अर्थव्यवस्था की संरचना में परिवर्तनों की सूचना भी प्रदान करता है।

(4) राष्ट्रीय आय लेखांकन अर्थव्यवस्था की प्रबलताओं और त्रुटियों की समीक्षा के लिए आवश्यक जानकारियों का आधार निर्मित करता है।

(5) राष्ट्रीय आय के आंकड़ों के आधार पर जीवन स्तर, आय के आबंटन और राष्ट्रीय आय की वास्तविक संरचना में हो रहे परिवर्तनों की तुलना आदि संभव हो सकती हैं।

(6) राष्ट्रीय आय के लेखे द्वारा विभिन्न देशों के राष्ट्रीय उत्पाद की तुलना सरल हो जाती है।

अतः राष्ट्रीय आय के आंकड़े अर्थव्यवस्था में मानवीय गतिविधियों के भौतिक परिणामों का मौद्रिक प्रतिरूप होते है। आधुनिक युग में ये आंकड़े मानकों अथवा कसोटियों की रचना करते हैं जिनके आधार पर आर्थिक नीतियों की उपलब्धियों का मूल्यांकन होता है।

अर्थव्यवस्था की समष्टि संरचना

समष्टि स्तरीय आर्थिक गतिविधियों के चक्रीय प्रवाह[2]*:* राष्ट्रीय आय लेखांकन से पूर्व अर्थव्यवस्था की समष्टि संरचना को समझ लेना आवश्यक होता है। आय के इस लेखांकन की आधार स्वरूप संकल्पनाओं का आरंभ ही अर्थव्यवस्था में आर्थिक गतिविधियों के पारस्परिक संबंधों की झांकी से होता है। अर्थव्यवस्था के प्रमुख क्षेत्रकों की पारस्परिक निर्भरता के चित्रांकन को ही आय और उत्पादन के चक्रीय प्रवाह का नाम दिया जाता है। इसका सीधा सा अर्थ यही है कि किसी भी क्षेत्र में सभी आर्थिक निर्णय अन्य क्षेत्रों के कतिपय निर्णयों के प्रभाव स्वरूप ही लिए जाते है। इस प्रकार समष्टि अर्थव्यवस्था सभी क्षेत्रकों के निर्णयकर्ताओं के बीच के पारस्परिक संबंधों की व्यवस्था बन जाती है।

आय के चक्रीय प्रवाहों में दो मूलभूत सिद्धांत निहित हैं:

(क) विनिमय की किसी प्रक्रिया में उत्पादक-विक्रेता को मिली राशियां उतनी ही होती है जितनी उपभोक्ता-क्रेता खर्च करते हैं, तथा

[2] प्रवाह से समयानुसार आर्थिक 'चरों' के मान में आए परिवर्तनों की ओर संकेत किया जाता है। आय और उत्पादन ऐसे ही प्रवाह होते है। इन्हें स्थिर रहने वाले स्टॉक जैसे आंकड़ों से भिन्न माना जाता है, जैसे धन या पूंजी।

विलप 2.1

आय और व्यय के चक्रीय प्रवाह

राष्ट्रीय आय और उत्पादन के चक्रीय प्रवाह के माध्यम से अर्थव्यवस्था की समष्टि संरचना का प्रेरणा स्रोत 18वीं शताब्दी के फ्रांसीसी अर्थशास्त्रियों के उस समूह की रचनाओं में निहित हैं जिन्हें प्रकृतिवादी कृष्यर्थशास्त्री कहा जाता है। इन का दृढ विश्वास था कि कोई प्राकृतिक व्यवस्था अर्थतंत्र की गतिविधियों का स्वंय ही मार्गदर्शन कर रहा है। इसीलिए वे आर्थिक कार्यो में सरकार के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के विरोधी थे। वे स्वतंत्र व्यापार की नीति के पक्षधर थे और उनके चिंतन में कृषि ही समाज की आर्थिक गतिविधियों का आधार स्तंभ थी इन्हीं विशेषज्ञों में फ्रेंकायज क्वीजने (Francols Quesney) का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। क्वीजने महाशय ने वर्ष 1758 में अर्थ तालिका (Tableau Economlque) की रचना की थी। इस तालिका में ही धन के चक्रीय प्रवाह तथा समाज के सभी वर्ग समूहों के बीच कृषि उत्पादन के आबंटन का विधिवत चित्रांकन प्रस्तुत किया गया था। अर्थतालिका को ही इन कृष्यर्थशास्त्रियों की सर्वोत्कृष्ट रचना कहा जाता है, किंतु एड्मस्मिथ आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री इसके बारे में चुप्पी ही साधे रहे। उनके बहुत बाद कार्ल मार्क्स ने 19वीं शताब्दी के मध्य में इस तालिका को पुन: प्रकाश में लाने का कार्य किया था।

(ख) वस्तुएं और सेवाएं[3] एक दिशा में प्रवाहित होती है तथा उन्हें पाने के लिए किए गए मौद्रिक भुगतान विपरीत दिशा की ओर प्रवाहित होते हैं। इसी कारण प्रवाह चित्र में चक्रीयता दिखाई पड़ने लगती है। विक्रेता से उत्पादन का वास्तविक प्रवाह उपभोक्ता द्वारा (उत्पादक को) किए जा रहे मौद्रिक (भुगतान) प्रवाह का 'प्रतिपूरक' माना जा सकता है।

आइए, अर्थव्यवस्था के विभिन्न घटक क्षेत्रकों के बीच इस द्विपक्षीय परस्पर निर्भरता पर कुछ विस्तार से विचार करें। राष्ट्रीय आय के लेखांकन में उपयोगी अवधारणाओं को समझ पाने में यह चर्चा बहुत ही सहायक सिद्ध होगी।

एक सरल द्वि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवाह

हम अपनी चर्चा का आरंभ केवल दो घटकों वाली अति सरल अर्थव्यवस्था से कर रहे हैं। इसकी मुख्य मान्यताए इस प्रकार हैं:

- अर्थव्यवस्था में दो ही क्षेत्रक हैं, परिवार और फर्में।
- परिवार फर्मों को साधन सेवाओं की आपूर्ति करते है।
- फर्में परिवारों से साधन सेवाएं भाड़े पर लेती है।
- परिवार अपनी सारी आय उपभोग पर खर्च कर देते हैं।
- फर्में अपना सारा उत्पादन परिवारों को बेच देती हैं।

[3] वस्तु का सबसे अच्छा उदाहरण कोई भी भौतिक पदार्थ, जैसे फलो के रस का डब्बा, टेलीविजन आदि हो सकता है- इसका कोई न कोई आर्थिक मूल्य अवश्य होता है। इसके विपरीत सेवा का भौतिक स्वरूप नहीं होता, पर फिर भी वह आर्थिक मूल्य से संपन्न होती है- उदाहरण स्वरूप हम विज्ञापन करने की बात ले सकते हैं।

- इस अर्थव्यवस्था में 'सरकार' तथा विदेशी व्यापार का कोई अस्तित्व नहीं होता।

उपर्युक्त अर्थव्यवस्था में दो प्रकार के बाज़ार होंगे। पहला बाज़ार उपभोग्य वस्तुओं और सेवाओं का होगा। इसे *उत्पाद बाज़ार* कहेंगे। दूसरे में साधन सेवाओं का क्रय विक्रय होता है- इसे *संसाधन बाज़ार* का नाम दिया जाएगा।

इस सरल अर्थव्यवस्था में परिवारों और फर्मों की परस्पर आर्थिक निर्भरता को इस प्रकार देखा जा सकता है:

(i) परिवारों के पास भूमि, श्रम, पूंजी तथा उद्यमी योग्यताओं का भण्डार होता है। ये उन संसाधानों की सेवाएं फर्मों को बेच देते हैं। फर्में उन सेवाओं का प्रयोग कर वस्तुओं और उपयोग सेवाओं का उत्पादन करती हैं। इस प्रकार उत्पादित वस्तुएं और सेवाएं उपभोग के निमित्त परिवारों को बेच दी जाती हैं।[4] इस प्रकार फर्मों का सारा उत्पादन परिवारों द्वारा उपभोग कर लिया जाता है।

फर्मों और परिवारों के बीच इस प्रकार के संबंधों (लेन-देन) को *वास्तविक प्रवाह* कहा जाता है क्योंकि इनमें वास्तविक वस्तुओं, संसाधनों आदि का प्रवाह होता है।

(ii) वस्तुओं और सेवाओं आदि के परिवारों और फर्मों के बीच के उपर्युक्त विनिमय का दूसरा पक्ष आय और व्यय के प्रवाह हैं। फर्में परिवारों को मजदूरी, भाड़ा (श्रम के लिए मजदूरी, भूमि के लिए भाड़ा/लगान, पूंजी का ब्याज और उद्यम का लाभ) आदि संसाधन प्रतिफलों का भुगतान करती हैं। फर्मों के ये साधन भुगतान ही परिवारों की **संसाधन आय** कहलाते है। इसी आय का प्रयोग कर परिवार फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएं और सेवाएं अपने उपभोग के लिए खरीद लेते हैं। यही उपभोग पर व्यय है।

यह आय और व्यय के प्रवाह ही **मौद्रिक प्रवाह** कहे जाते है।

अतः उपर्युक्त चक्रीय प्रवाह चित्र (चित्र. 2.1) में हम दो वास्तविक और दो मौद्रिक प्रवाहों को स्पष्ट रूप से पहचान सकते है:

1. फर्मों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का सकल उत्पादन = परिवारों द्वारा वस्तुओं और सेवाओं का सकल उपयोग
2. फर्मों द्वारा संसाधनों का भुगतान = परिवारों की संसाधन आय
3. परिवारों का उपभोग व्यय = परिवारों की आय
4. अतः फर्मों और परिवारों के उत्पादन और उपभोग के वास्तविक प्रवाह = फर्मों और परिवारों के आय और व्यय के मौद्रिक प्रवाह

हमारा यह सरलीकृत चक्रीय प्रवाह चित्र निम्न युग्मों के पारस्परिक संबंधों को दर्शा रहा है:

- संसाधन बाज़ार एवं वस्तु बाज़ार;
- उत्पादन प्रवाह और आय प्रवाह; तथा
- व्यावसायिक उत्पादन और उपभोक्ता व्यय।

प्रत्येक क्षेत्र की दोहरी भूमिकाएँ (एक बार क्रेता तो दूसरी ओर विक्रेता) भी स्पष्ट हो जाती हैं। इसी दोहरेपन के कारण दोनों क्षेत्रकों के बीच लेन-देन के ये चक्रीय प्रवाह निरंतर चलते रहते हैं।

---

[4] फर्में उत्पादक पदार्थों (पूँजीगत संसाधन, जिनका प्रयोग अन्य उत्पादक करते हैं) का उत्पादन कर सकती हैं। वे उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण भी करती हैं- जिनका प्रयोग प्रायः सभी परिवार करते हैं। उपभोक्ता वस्तुओं को और आगे दो वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है: **दीर्घोपयोगी** तथा **अदीर्घोपयोगी**- यह उपभोक्ताओं द्वारा उनकी प्रयोग अवधि पर निर्भर रहता है। एक एयर कंडीशनर और वॉशिंग मशीन दीर्घोपयोगी होगा तो खाद्य पदार्थों को अदीर्घोपयोगी या शीघ्र नाशवान पदार्थ की संज्ञा दी जा सकती है।

आय के चक्रीय प्रवाह और वित्तीय व्यवस्था[5]

अनेक प्रकार की वित्तीय संस्थाओं और बाज़ारों से मिल कर हमारी अर्थव्यवस्था की वित्तीय व्यवस्था की रचना होती है। ये वित्तीय संस्थाएं मूलत: बचत कर्ताओं और निवेशकों या फिर उधार दाताओं और उधार लेने वालों के बीच मध्यस्थों का कार्य करती हैं। विकास अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ अर्थव्यवस्था के वित्तीय विकास को सामान्य आर्थिक विकास क्रम की एक अभिन्न कड़ी मानते है। इसी कारण से चक्रीय प्रवाह में वित्तीय क्षेत्रक का समावेश किए बिना हमारा समष्टि आर्थिक गतिविधियों विषयक ज्ञान अधूरा ही रह जाएगा।

हमने अभी तक आय के चक्रीय प्रवाह में बचत और निवेश का समावेश नहीं किया है। इसका कारण यही रहा है कि हमने दोनों क्षेत्रकों- परिवारों और फर्मों को *संतुलित व्यय कर्ता* माना है। ये अपनी
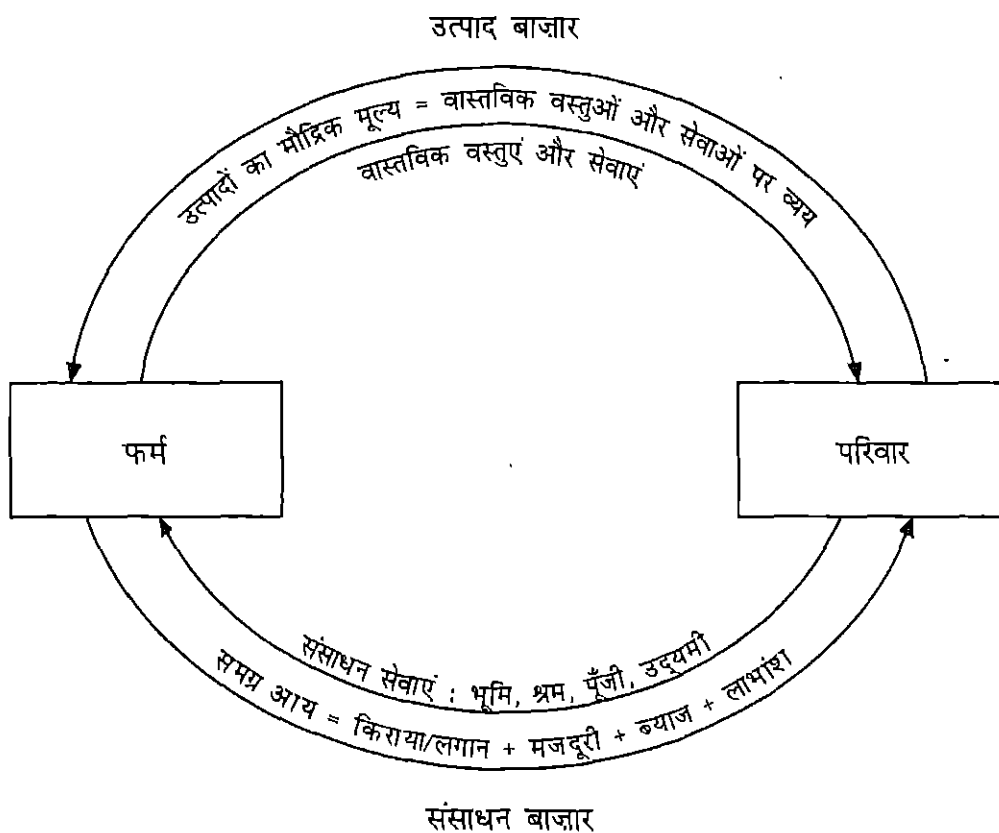
चित्र 2.1: द्वि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में आय का चक्रीय प्रवाह

[5] परिवार और फर्म अपनी आय के एक अंश को बचा रखते हैं- यह चक्रीय प्रवाह से क्षरण या छीजन या क्षरण (leakages) कहलाता है। इस प्रकार बचाई गई राशिया वित्तीय व्यवस्था के पास संग्रहित हो जाती है। फर्में निवेश के उद्देश्य से वित्तीय संस्थाओं से उधार ले लेती हैं-यह राशियाँ चक्रीय प्रवाह में भरण (Injection)का रूप धारण कर लेती है।

सारी प्राप्तियों को खर्च कर देते है। इनके पास न कभी कुछ बचता है और न ही इन्हें किसी व्यय को पूरा करने के लिए धन का अभाव प्रतीत होता है। ये क्षेत्रक अपने व्यय को प्राप्तियों से बांधे रखने को बाध्य रहते हैं। आइए, अब वित्तीय क्षेत्रक के माध्यम से इन्हें इस विवशता से मुक्ति दिला दें। परिवार और फर्में अपनी बचत वित्तीय क्षेत्र के पास जमा कर सकते है- और आवश्यकता पड़ने पर उनसे उधार (ऋण) भी प्राप्त कर सकते हैं।

परिवारों को *विशुद्ध उधारदाता* माना जाता है। इसका कारण वैयक्तिक बचतें हैं- ये परिवार की आय और उपभोग का अंतर होती हैं। फर्में कुल मिलाकर विशुद्ध उधार प्राप्तकर्ता रहती हैं- क्योंकि इन्हें नए कारखानों, यंत्र-संयत्र आदि में निवेश के लिए वित्त जुटाना होता है। सभी उधार राशियों का लेन-देन वित्तीय क्षेत्रक के माध्यम से होता है। अत: जब तक उधार ली गई राशियां उधार दी गई राशियों के समान रहती हैं, अर्थात भरण और क्षरण समान रहते है, चक्रीय प्रवाह निरंतर चलते रहेंगें। (चित्र 2.2)

बचतकर्ताओं की जमा राशियां किसी न किसी अनुबंध के आधार पर वित्तीय संस्थाओं के पास रहती हैं। ये संस्थाएं उन राशियों पर ब्याज देती हैं। वित्त बाज़ार से प्राप्त उधार आदि पर फर्में लाभांश और ब्याज चुकाती हैं (ये राशियां अंशपत्रों, बांडों तथा जमापत्रों के माध्यम से ली जाती है)। वित्तीय संस्थाएं तो अंतिम ऋणदाता और अंतिम उधार प्राप्त कर्ताओं के बीच मध्यस्थी ही करती हैं। मध्यस्थ संस्थाओं और बाज़ारों की कार्य-विधि के कारण बचत निवेश के ये कार्य समाज की पूंजी निर्माण-प्रक्रिया को अधिक सुचारू और व्यवस्थित बना देते हैं।

इस प्रकार किसी भी आधुनिक अर्थतंत्र के लिए वित्तीय व्यवस्था बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाती है। कभी
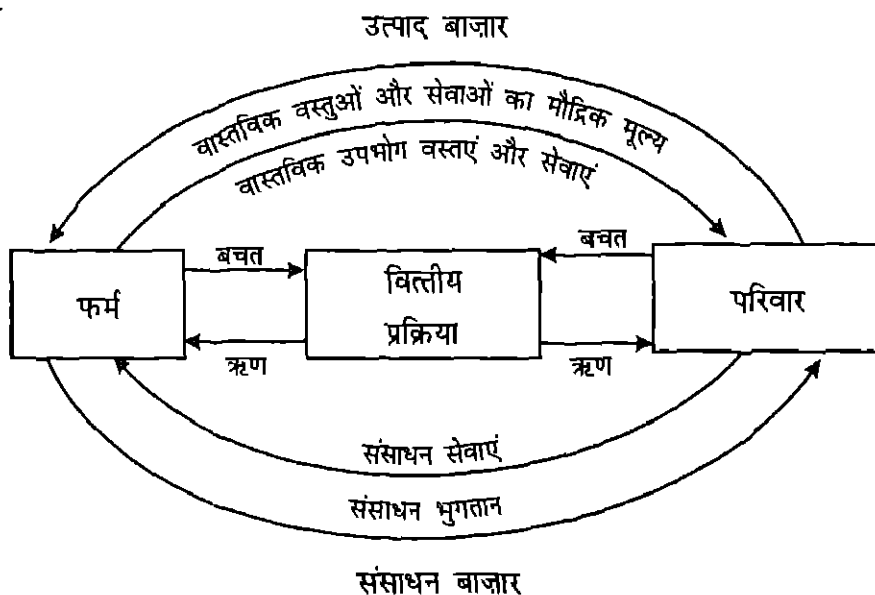
चित्र 2.2: द्वि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था के चक्रीय प्रवाह: वित्तीय क्षेत्रक का समावेश
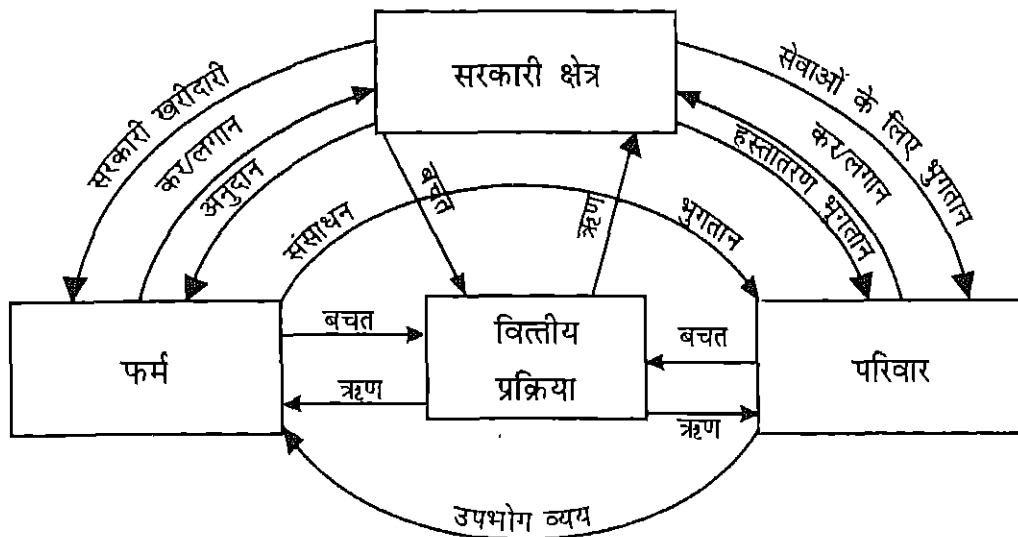
चित्र 2.3: त्रि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में आय का चक्रीय प्रवाह

यह दावा किया जाता है मुद्रा और वित्त तो वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए एक आवरण मात्र है- किन्तु हम वित्तीय प्रवाहों को महत्त्वहीन नहीं मान पाते। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत कि वित्त ही वह 'चिकनाई' है जो अर्थतंत्र को सुचारू रूप से गतिमान बनाए रखती है।

आय के चक्रीय प्रवाह और सरकार[6]

इस अध्याय के पिछले खण्ड में हमने पाया था कि हमारी सरल द्वि-क्षेत्र व्यवस्था में सकल उत्पाद प्रवाह का मूल्य समग्र साधन आय के मान और वैयक्तिक उपभोग व्यय के प्रवाह के (मूल्य के) समान होता है। आइए, अब इस प्रतिमान का विस्तार कर सरकार को तीसरे क्षेत्रक के रूप में सम्मिलित कर लें। सरकार अर्थतंत्र की गतिविधियों की नियंत्रक तथा देश की जनता के सामान्य क्षेम की संवर्धक होती है। इस दृष्टि से परिवारों और सरकार तथा फर्मों और सरकार के द्वि-पक्षीय आर्थिक संबंधों पर विचार करना बहुत ही आवश्यक हो जाता है।

हम चित्र 2.3 के माध्यम से सरकार के समावेश के कारण चक्रीय प्रवाह चित्र में आये सभी परिवर्तन दिखा रहे हैं। एक बात पर विशेष रूप से ध्यान दें: अब हम केवल मौद्रिक प्रवाहों को ही अंकित कर रहे हैं। इसका कारण इतना ही है कि अन्यथा सारे चित्र में बहुत ही भीड़-भाड़ हो जाएगी-जिससे कहीं न कहीं भ्रम पैदा होने की संभावना हो सकती है।

सरकार जहां फर्मों से वस्तुएं और सेवाएं खरीदती है वहीं परिवारों से भी श्रम सेवाएं प्राप्त करती है। साथ ही यह अपने सभी व्ययों को पूरा करने के लिए

[6] यहां हम सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी को प्रवाह चक्र में सम्मिलित कर रहे हैं। सरकार और अन्य क्षेत्रकों के बीच के अन्य प्रवाह करों के भुगतान (फर्मों व परिवारों द्वारा) तथा सरकार द्वारा हस्तांतरण आय भुगतान होते हैं।

परिवारों और फर्मों से कर भी उगाहती है। सरकार सामाजिक सुरक्षा, छात्रवृत्तियों आदि के रूप में परिवारों को हस्तांतरण आय भी प्रदान करती है। फर्मों को भी अनेक प्रकार से उत्पादन को प्रोत्साहन देने के ध्येय से सहाय्य प्रदान किए जाते हैं। भारत में लघु उद्यमों, निर्यात उद्यमों और अन्य वरीयता क्षेत्र की इकाइयों को (सरकार से) सहाय्य/अनुदान राशियां प्राप्त होती हैं।[7]

बाह्य या विदेशी क्षेत्र और चक्रीय प्रवाह

अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक परिस्थितियां भी देश के उत्पादन और रोजगार स्तरों पर अपना प्रभाव छोड़ती हैं। इसी कारण समष्टि आर्थिक गतिविधियों के अंतर्राष्ट्रीय आयामों का अध्ययन करना भी आवश्यक हो जाता है। यह कार्य हम चित्र 2.4 की सहायता से कर रहे हैं।

बाह्य क्षेत्र को ही कई बार 'शेष विश्व' क्षेत्र के नाम से भी संबोधित किया जाता है। यह भी अर्थव्यवस्था के घरेलू क्षेत्रकों के साथ लेन-देन के संबंधों में बंधा रहता है। ये संबंध मुख्यत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और पूंजी प्रवाहों में परिलच्छित होते हैं। एक देश का निर्यात अन्यों के आयात होते हैं। वस्तुओं आदि के इसी आयात-निर्यात द्वारा यह निश्चित होता है कि किसी देश को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होते हैं या हानि। यदि निर्यात का मान आयात से अधिक हो तो घरेलू अर्थव्यवस्था के लिए *व्यापार शेष में अतिरेक* होता है। इसके विपरीत आयात मूल्य निर्यात से अधिक हो जाने पर व्यापार शेष में घाटे का सामना करना पड़ जाता है।[8]
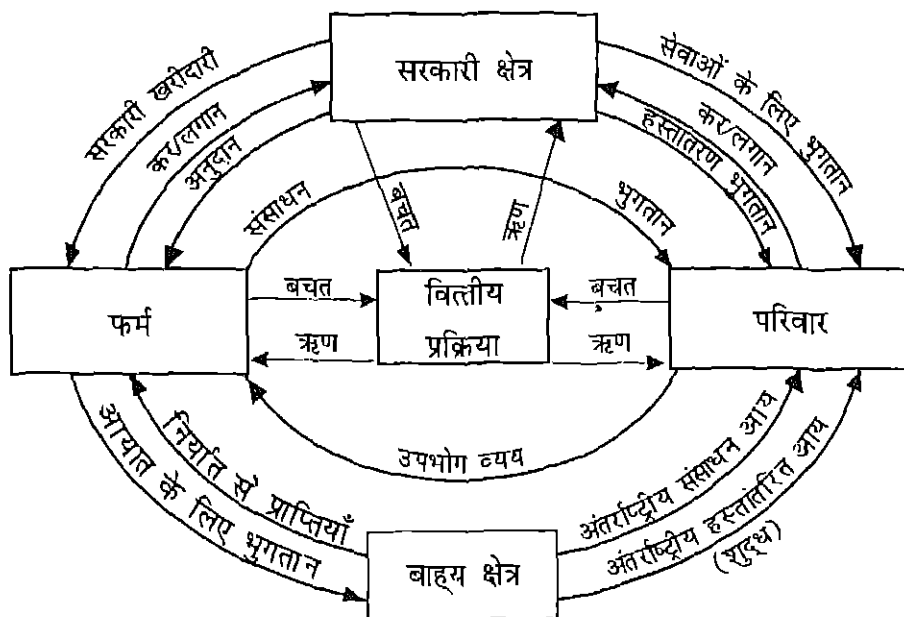
चित्र 2.4: चार-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवाह

[7] सभी कर चक्रीय प्रवाह से क्षरण होते हैं और सरकारी व्यय इस प्रवाह में भरण का कार्य करते हैं।

[8] एक बात पर गौर करें: आयात चक्रीय प्रवाह से क्षरण होता है, और निर्यात भरण।

अर्थव्यवस्था का चार-क्षेत्रकीय प्रतिमान आय और उत्पादन की समष्टि आर्थिक शर्त को इस सर्वसमिका द्वारा निरूपित कर देता है:

$$Y = C + I + G + (X - M)$$

यहां Y = आय का उत्पादन

C = परिवारों का (निजी क्षेत्र का) उपभोग व्यय

I = उत्पाद [illegible] द्वारा निवेश व्यय

G = सरका[illegible] रियां

$X - M$ = [illegible] निर्यात मूल्य (X निर्यात तथा M आया[illegible] दर्शाता है)

समूचा राष्ट्रीय आय [illegible]ंकन शास्त्र इसी सर्वसमिका पर आधारित है।

सार संक्षेप

- अर्थव्यवस्था की समष्टि संरचना आय-उत्पादन के चक्रीय प्रवाह द्वारा अभिव्यक्त हो जाती है।
- राष्ट्रीय आय लेखांकन का आधार भी चक्रीय प्रवाह प्रतिमान ही है।
- आर्थिक नीति-निर्धारण और शोध आदि में राष्ट्रीय आय लेखांकन का अनेक प्रकार से प्रयोग होता है।
- आय के चक्रीय प्रवाहों को दो, तीन तथा चार क्षेत्रकीय प्रतिमानों द्वारा समझाया जा सकता है।
- राष्ट्रीय आय लेखांकन किसी देश की आर्थिक गतिविधियों की समीक्षा के लिए उपयुक्त मानदण्डों की रचना करता है।

अभ्यास

1. राष्ट्रीय आय लेखांकन के उपयोग क्या हैं?
2. आय और उत्पादन के चक्रीय प्रवाह का सिद्धांत क्या है?
3. दो-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवाह समझाइए।
4. तीन-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवाह समझाइए।
5. चार-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में चक्रीय प्रवाह समझाइए।
6. किसी चक्रीय प्रवाह प्रतिमान का प्रयोग कर दर्शाइए कि आय और उत्पादन के प्रवाह एक समान होते है।
7. आय के चक्रीय प्रवाहों में 'क्षरण' (leakages) और 'भरण' (injection) की अवधारणाओं की व्याख्या करें।

अध्याय 3

राष्ट्रीय आय लेखांकन : अवधारणाएं और मापन

पिछले अध्याय में हमने उत्पादन और आय के चक्रीय प्रवाह के माध्यम से अर्थव्यवस्था की समष्टि रचना का चित्रण किया था। समष्टि गतिविधियों का यही निरूपण राष्ट्रीय आय की अवधारणाओं के तार्किक आधार की रचना करता है और उसी के अनुसार आप के विभिन्न समुच्चयों का मापन-आकलन किया जाता है। राष्ट्रीय आय की इन अवधारणाओं की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि इन्हें परिमाणात्मक स्वरूप में मापा और अभिव्यक्त किया जा सकता है। ये विचार मात्र नहीं हैं। इसी कारण से राष्ट्रीय आय लेखांकन की व्यवहारिक कठिनाईयों की सीमाओं का सम्मान करते हुए राष्ट्रीय आय के आंकड़े जहां तक संभव हो पाता है, सटीक ही होते हैं। पिछली शताब्दी में अनेक विशेषज्ञों ने समय-समय पर राष्ट्रीय आय लेखांकन की विधियों को संवारा सुधारा है। आज उपलब्ध लेखांकन व्यवस्था उन्हीं के प्रयासों का परिणाम है। वर्तमान अध्याय में हम राष्ट्रीय आय के समुच्च्यों के मापन की प्रमुख विधियां प्रस्तुत करेंगे। यहां समष्टि आर्थिक गतिविधियों के चक्रीय प्रवाहों के संदर्भ में की गई एक टिप्पणी पुन: दौहराना उचित ही रहेगा। वहाँ हमने कहा था कि समग्र उत्पादन का मूल्यमान ही समग्र आय के योग के समान रहता है और आय का यही योगफल अंतत: समाज के समग्र व्यय के समान हो जाता है। इसी कथन के आधार पर राष्ट्रीय आय के मापन की तीन प्रमुख विधियों की रचना हुई: उत्पादन विधि, आय विधि और व्यय विधि। *सिद्धांतत:* इन तीनों विधियों से हमें एक समान परिणाम मिलने चाहिए।

सकल घरेलू उत्पाद का मापन

आइए हम सर्वप्रथम अर्थव्यवस्था में हुए समग्र उत्पादन के मूल्य के मान को मापने का प्रयास करें। इसे सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की संज्ञा दी जाती है। यहाँ मापन का कार्य तीनों विधियों से किया जा सकता है। हम सकल घरेलू उत्पाद का माप उत्पादन, आय और व्यय मापन की विधियों द्वारा कर सकते हैं। समष्टि स्तरीय आर्थिक समीक्षा की दृष्टि से यह समुच्चय बहुत ही महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिए इसके आकलन में बहुत सावधानी की आवश्यकता रहती है।

सकल घरेलू उत्पाद : उत्पादन विधि से आकलन

सकल घरेलू उत्पाद (GDP) एक सारभूत आंकड़ा होता है। अर्थशास्त्री और नीति विश्लेषणकर्ता इसी के आधार पर वर्ष भर में अर्थव्यवस्था की *संवृद्धि* की दर का आकलन करते हैं। इस सकल घरेलू उत्पाद को राष्ट्रीय आय का एक मौलिक मापक माना जाता है।

सकल घरेलू उत्पाद एक वर्ष की अवधि में किसी अर्थव्यवस्था में अवस्थित सभी उत्पादक संसाधनों द्वारा उत्पादित अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के बाज़ार

मूल्यों के योगफल के समान होता है। इस परिभाषा में प्रयुक्त वाक्यांश *अंतिम वस्तुओं और सेवाओं* महत्त्वपूर्ण है। इस पर कुछ और ध्यान देने की आवश्यकता है।

अंतिम वस्तुएं वह होती हैं जिनका उपभोक्ता उपभोग के लिए या उत्पादक निवेश के लिए प्रयोग करते हैं। इन वस्तुओं का रूप आकार बदल कर पुनः विक्रय नहीं होता। इन्हें आगे उत्पादन में कच्चे माल की तरह भी प्रयोग नहीं लाया जाता। ये पूरी तरह से *तैयार उत्पाद* होते हैं और उपभोग तथा निवेश ही इनका अंतिम प्रयोग होता है। सकल घरेलू उत्पाद की गणना में अंतिम वस्तुओं के समग्र मूल्य का ही योगफल किया जाता है। इस मापक का महत्त्व एक अन्य कारण से भी स्पष्ट हो जाता है: विकास के संदर्भ में किसी अर्थव्यवस्था की सशक्तता आकलन उसकी अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन कर पाने की क्षमता के आधार पर ही किया जाता है।

अंतर्वर्ती या *मध्यवर्ती* और अंतिम वस्तुओं के भेद को समझ लेना भी उपयोगी होगा। राष्ट्रीय आय के लेखांकन में बार-बार इनसे वास्ता पड़ जाता है। मध्यवर्ती वस्तुओं के सकल घरेलू उत्पाद के मापन में शामिल नहीं किया जाता।

विलय 3.1

राष्ट्रीय आय आकलन के पथप्रदर्शक

यद्यपि आज हम विभिन्न देशों के आर्थिक निष्पादन के मापन के लिए राष्ट्रीय आय लेखांकन की संकल्पनाओं और विधियों का बहुत सहजभाव से प्रयोग कर रहे हैं- पर ये विचार पिछले कुछ ही दशकों में इतने व्यापक रूप से मान्य और लोकप्रिय हो पाएं हैं।

साइमन कुजनेट्स

राष्ट्रीय आय और उत्पादन लेखांकन के क्षेत्र में अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के माध्यम से साइमन कुजनेट्स (1905-85) ने अर्थव्यवस्थाओं की संवृद्धि की दिशा का आकलन करने के लिए राष्ट्रीय आय समुच्चयों के प्रयोग का सूत्रपात किया। ये इस विषय के अग्रणि अध्येता रहे हैं। इन्हीं के शोध प्रयासों के परिणामस्वरूप 1934 में अमरीकी सीनेट के अधिकारिक दस्तावेज के रूप में अमरीकी अर्थव्यवस्था की राष्ट्रीय आय के पहले अनुमान प्रकाशित हुए थे। इन अनुमानों के आधार पर 1929 की व्यापक मंदी के दुष्प्रभावों की गहन गंभीरता की समीक्षा संभव हो पायी थी। दो खंडों में प्रकाशित इनके विशद् ग्रंथ, *"नेशनल इनकम एंड इट्स कंपोजीशन, 1919–38"* (न्यूयार्क, एनबीईआर, 1941) ने तो इन्हें विश्व पटल पर प्रसिद्धि दिला दी थी। इसके बाद इनके दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाशन और आये : नेशनल प्रोडक्ट सिन्स 1869 (न्यूयार्क, एनबीईआर, 1947) तथा इक्नॉमिक ग्रोथ ऑफ नेशन्स: टोटल आउटपुट एंड प्रोडक्शन स्ट्रक्चर (कैंबिज मांउट, हार्वर्ड यूनीवर्सिटी प्रैस, 1971)। इन महत्त्वपूर्ण योगदानों तथा आर्थिक *संवृद्धि* की तथ्याधारित व्याख्या के लिए साइमन कुजनेट्स को वर्ष 1971 में नोबेल पुरस्कार द्वारा सम्मानित भी किया गया था।

रिचर्ड स्टोन

राष्ट्रीय आय के अध्ययन के क्षेत्र में रिचर्ड स्टोन (1913-91) का योगदान भी *अद्वीतीय* रहा है। किसी समय में जॉन मेनार्ड केंज के साथ शोध सहायक के रूप में कार्य करते थे। स्टोन ने 1940 के दशक के प्रारंभ में ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की एक सांख्यिकीय संरचना का निर्माण किया। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत स्टोन महाशय

को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा गठित उस विशेषज्ञ दल का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था जिसने राष्ट्रीय आय लेखांकन के मानक प्रतिमान की रचना की थी।

भारत में राष्ट्रीय आय के आकलन के व्यक्ति स्तरीय प्रयास स्वतंत्रता से बहुत पहले प्रारंभ हो चुके थे। इस दिशा में अनेक विद्वान अर्थविदों ने अलग-अलग वर्षों के आय आकलन के जो महती प्रयास किये थे उन्हें आज भी याद किया जाता हैं।

वी.के.आर.वी. राव

पी.सी.महनवीस

डी. आर. गाडगिल

सभी में सबसे अधिक सुगठित कार्य वी.के.आर.वी. राव द्वारा किया गया था। उनकी पुस्तक: *नेशनल इंकम इन ब्रिटिश इंडिया*, 1931-32 (लंदन, मैकमिलन, 1940) ही स्वतंत्रता के बाद की अवधि में भी भारत में राष्ट्रीय आय के आकलन का आधार बनी रही। वर्ष 1949 में भारत सरकार द्वारा सांख्यिकीविद् पी.सी. महनवीस की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आय समिति का गठन किया गया था, वी.के.आर.वी. राव तथा डी.आर. गाडगिल उसके सदस्य थे। उस समय से लेकर निरंतर हमारे राष्ट्रीय आय आकलन में सुधार आता रहा है। आजकल केंद्रीय सांख्यिकी संगठन (CSO) को राष्ट्रीय आय लेखा (NAS) आंकलित कर प्रकाशित करने का दायित्व मिला हुआ है।

मध्यवर्ती वस्तुएं उन वस्तुओं को कहते हैं जिनका आगे अन्य वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग होता है। इस प्रकार ये वस्तुएं उत्पादन प्रक्रिया के एक चरण से दूसरे चरण में पहुँच कर किसी अंतिम रूप से काम आ सकने वाली वस्तु के निर्माण में उपयोगी रहती हैं।

अंतिम और मध्यवर्ती वस्तुओं में भेद एक वाहन निर्माण के उदाहरण से सहज ही समझा जा सकता है।

वाहन निर्माण के उद्योग में इस्पात, रोगन, रबड़, फोम, प्लास्टिक, शीशा, तार, बैट्री आदि अनेक सामग्रियों का प्रयोग होता है। साथ ही अनेक प्रकार के कल पुर्जे भी इस्तेमाल किए जाते हैं। ये सभी सामग्रियां तथा कल पुर्जे किसी न किसी अन्य उद्योग से खरीद कर वाहन निर्माण में प्रयोग किए जाते हैं। जैसे ही वाहन का निर्माण होता है, से सभी चीजें उसकी अभिन्न अंग बन जाती हैं। इनका अपने आप में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता, ये बड़े प्रयोग- (वाहन के उपयोग) में सहायक होकर रह जाते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं को ही मध्यवर्ती वस्तुएं कहा जाता है। निर्माणशाला से अंततः जो उत्पादन तैयार होकर बाहर आता है वह वाहन ही अंतिम वस्तु होता है।

राष्ट्रीय आय के आकलन में मध्यवर्ती वस्तुओं के मूल्य को सम्मिलित नहीं करने का एक ही कारण है: हम दोहरी गणना से बचना चाहते हैं। अर्थात् हम किसी भी चीज को दो या दो से अधिक बार अपने

आकलन में स्थान नहीं दे देना चाहते। दोहरी गणना सकल घरेलू उत्पादन के आंकड़ों को अनावश्यक रूप से बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत कर सकती है।

सकल घरेलू उत्पाद के आकलन में दोहरी गणना से बचने की विधि को मूल्य-वृद्धि विधि कहा जाता है। आइए, इस पर कुछ विचार करें।

मूल्यवृद्धि की अवधारणा और मापन

मूल्य वृद्धि की संकल्पना सकल घरेलू उत्पाद के मापन की आधारशिला होती है। इसे *किसी फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य तथा उस द्वारा अन्य फर्मों से खरीदे गए आदानों के मूल्य के अंतर द्वारा परिभाषित किया जाता है।* इस प्रकार यह आलोच्चय फर्म द्वारा अपनी उत्पादन प्रक्रिया के माध्यम से सृजित मूल्य का मान बन जाती है।

आज के युग में अधिकांश वस्तुओं की उत्पादन प्रक्रिया के अनेक चरण या सोपान होते हैं। इसी कारण प्रत्येक सोपान पर कुछ न कुछ मूल्य *वृद्धि* की प्रक्रिया चलती रहती है। इसी की परिणति अंतिम सोपान के अंत में अंतिम उत्पादन के रूप में होती है। अत: अंतिम उत्पादन का मूल्य निश्चित रूप से प्रत्येक सोपान में हुई मूल्य वृद्धियों के योगफल के समान होना चाहिए। इसी को हम एक उदाहरण द्वारा तालिका 3.1 में दर्शा रहे हैं।

तालिका 3.1: मूल्य वृद्धि विधि द्वारा GNP के मापन का संख्यात्मक उदाहरण

परिवार क्षेत्र के लिए केक के उत्पादन और विक्रय की गतिविधियों पर विचार करें। उत्पादन की प्रक्रिया का प्रारंभ किसान द्वारा गेहूँ की फ़सल उगाकर उसकी कटाई से होता है। हम गेंहू उगाने को एक प्राथमिक गतिविधि मान रहे हैं- इसी कारण किसान की अन्य *उद्योगों* पर पश्चगामी निर्भरता की चर्चा यहां नहीं कर रहे। इसीलिए किसान के उत्पादन का मूल्य ही उस द्वारा सृजित मूल्य वृद्धि का मान होता है। दूसरे सोपान में चक्की वाले ने किसान से एक रुपये में गेहूँ खरीद कर पिसाई की तथा बेकरी वाले को 1.50 रुपये में आटा बेच दिया। इस प्रकार उसने 50 पैसे के समान मूल्य वृद्धि की। बेकरी वाले ने भी आटे से केक बनाकर उसे दो रुपये में दुकानदार को बेच दिया। इस सोपान में भी मूल्य वृद्धि का मान 50 पैसे रहा। यह अंतिम दुकानदार किसी उपभोक्ता को वह केक 2.50 रुपये में बेच देता है। इस प्रकार वह भी 50 पैसे के समान मूल्य *वृद्धि* करता है। केक की दुकान पर विक्रय मूल्य 2.50 रुपये रहा। यही चारों सोपानों में हुई मूल्य *वृद्धियों* का योगफल भी है अर्थात् रु.1.00 + 0.50 + 0.50 + 0.50 = रु. 2.50।

यदि हमने प्रत्येक मध्यवर्ती सोपान के सकल मूल्य का योग किया होता तो अंतिम उत्पादन केक का मूल्य बहुगुणित हो जाता। इसका कारण दोहरी गणना की समस्या ही होता। हम गेहूँ के मूल्य को चार-बार, आटे को तीन बार केक बनाने की प्रक्रिया को दो बार जोड़ बैठते। यह निश्चित रूप से अनुचित होता। इसी कारण से हम उत्पादन प्रक्रिया के प्रत्येक चरण में हुई मूल्य वृद्धियों के योग को ही अंतिम उत्पादन के मूल्य से समीकृत करते हैं।

एक वस्तु के स्तर दर्शायी गई यही मूल्य वृद्धि की विधि समष्टि स्तर पर सकल घरेलू उत्पाद के मापन में अपनायी जाती है।

मूल्य वृद्धि की विविध संकल्पनाएं

(i) फर्म द्वारा उत्पादन मूल्य = विक्रय मूल्य + भंडार परिवर्तन
(ii) मूल्य वृद्धि = उत्पादन मूल्य-मध्यवर्ती वस्तुओं की लागत
(iii) बाज़ार कीमतों पर शुद्ध मूल्य वृद्धि = बाज़ार कीमतों पर सकल मूल्य वृद्धि (-) स्थिर पूंजी का उपयोग (मूल्य ह्रास)
(iv) संसाधन लागत पर शुद्ध मूल्य वृद्धि = बाज़ार कीमत पर शुद्ध मूल्य वृद्धि (-) शुद्ध अप्रत्यक्ष कर (शुद्ध अप्रत्यक्ष कर = अप्रत्यक्ष कर – सहाय्य / अनुदान)
(v) संसाधन लागत पर शुद्ध मूल्य वृद्धि = कुल संसाधन आय

आइए, एक उदाहरण का प्रयोग कर मूल्य वृद्धि की आकलन विधि को समझने का प्रयास करें:

उदाहरण-1: निम्न आंकड़ों का प्रयोग कर फर्म-A तथा फर्म-B द्वारा सृजित मूल्य वृद्धि का आकलन करें:

(लाख रुपये)

(i)	फर्म-A के अंतिम स्टॉक भण्डार	20
(ii)	फर्म-B के अंतिम स्टॉक भण्डार	15
(iii)	फर्म-A का प्रारंभिक भण्डार (मूल्य)	5
(iv)	फर्म-B का प्रारंभिक भण्डार (मूल्य)	10
(v)	फर्म-A द्वारा कुल विक्रय	300
(vi)	फर्म-A द्वारा B से खरीदारी	100
(vii)	फर्म-B द्वारा A से खरीदारी	80
(viii)	फर्म-B द्वारा कुल विक्रय	250
(ix)	फर्म-A द्वारा कच्चे माल का आयात	50
(x)	फर्म-B द्वारा निर्यात	30

आकलन विधि: पहले प्रत्येक फर्म द्वारा किए गए उत्पादन का मूल्य ज्ञात करें, फिर उसमें से मध्यवर्ती खरीदारी घटाकर मूल्य वृद्धि का मान निकल आएगा।

चरण 1: फर्म-A के उत्पादन मूल्य
= बिक्री + भण्डार में परिवर्तन
(अंतिम भण्डार (-) आरंभिक भण्डार)
= 300 + (20 - 5)
= 315 लाख रुपये।

चरण 2: फर्म-A द्वारा मूल्य वृद्धि
= उत्पादन मूल्य (-) फर्म-B से
खरीदारी (-) फर्म A द्वारा आयात
= 315-100-50
= 165 लाख रुपये।

इसी प्रकार फर्म-B के लिए भी मापन किया जा सकता है।

चरण 3: फर्म-B के उत्पादन का मूल्य
= विक्रय + भण्डार में परिवर्तन
(अंतिम भण्डार - आरंभिक भण्डार)
+ फर्म B द्वारा निर्यात
= 250 + (15-10) + 30
= 285 लाख रुपये

चरण 4: फर्म-B द्वारा मूल्य वृद्धि
= उत्पादन मूल्य - फर्म-A से खरीदारी
= 285-80
= 205 लाख रुपये।

सकल घरेलू उत्पाद: व्यय के योगफल के रूप में

अर्थव्यवस्था में हुए सभी अंतिम व्ययों को जोड़कर हम सकल घरेलू उत्पाद का मान ज्ञात कर सकते हैं। परिवार, फर्में तथा सरकार तीन प्रकार के व्यय करते हैं। इन्हें निम्न वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

(i) निजि उपभोग व्यय (C)
(ii) निवेश व्यय (I)
(iii) सरकार द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं की खरीदारी (G)
(iv) शुद्ध निर्यात (X-M)

आइए, हम क्षेत्रानुसार इन अंतिम व्ययों की व्याख्या करें।

(i) निजी उपभोग व्यय

सकल घरेलू उत्पाद के इस घटक में परिवारों तथा गैर-लाभ कमाऊँ संस्थानों द्वारा नियत अवधि में अपने तात्कालिक प्रयोग के लिए खरीदी गई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य को सम्मिलित किया जाता है। यह उपभोग व्यय हमारे सकल घरेलू उत्पाद का बहुत महत्त्वपूर्ण घटक होता है- इसी कारण से इस पर अर्थशास्त्री और सरकार विशेष रूप से ध्यान देते हैं। यह निजी उपभोग ही उपभोज्य वस्तुओं और सेवाओं की मांग होती है। जहां वस्तुएं दृश्य होती हैं वही सेवाओं को देख पाना संभव नहीं होता (आप कार तो देख सकते हैं पर कार बीमा सेवा को देख पाना संभव नहीं होगा)। यही नहीं, वस्तुओं के संदर्भ में उपभोग का स्थान उत्पादन स्थल से भिन्न हो सकता है- आप उत्पादित वस्तुओं को अपनी सुविधा के स्थान और समय पर प्रयोग कर सकते है। किंतु उत्पादन के समय और स्थान का इस प्रकार उपभोग के स्थान और समय से विलगाव सेवाओं के विषय में संभव नहीं हो पाता। इनका तो उत्पादन के समय ही उसी स्थान पर उपभोग करना पड़ता है। उदाहरण के लिए बैंक की सेवाओं का उत्पादन बैंकर द्वारा नियत समय और स्थान पर ही होता है। ग्राहकों को उन सेवाओं का प्रयोग उसी के अनुसार करना पड़ता है।

उपभोग को हम तीन उपश्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। ये हैं: उपभोक्ता सेवाएं, गैर-स्थायी उपभोक्ता वस्तुएं और दीर्घोपयोगी उपभोक्ता वस्तुएँ। गैर-स्थायी उपभोक्ता वस्तुएं खरीदारी के तुरंत बाद- या शीघ्र ही पूरी तरह से उपयुक्त हो जाती हैं। इसके विपरीत दीर्घोपयोगी वस्तुएं लंबी अवधि तक काम आती रहती हैं। हम खाद्य सामग्री को गैर-स्थायी तथा फर्नीचर,

स्टीरियो और वाशिंग मशीन आदि को दीर्घोपयोगी वस्तुओं की श्रेणी में रखते हैं। यह अंतर केवल प्रयोग की अवधि पर निर्भर है। यहां वस्तुओं के स्थायी रूप से बने रहने (अथवा नहीं रहने) का अभिप्राय बिल्कुल नहीं है। वास्तव में तो दीर्घोपयोगी वस्तुएं भी किसी न किसी समय अवधि के बाद काम आने योग्य नहीं रहती और हमारे उपभोक्ताओं को उन्हें बेकार घोषित कर त्याग देना पड़ता है। निजी अंतिम उपभोग के वर्ग में इन तीनों प्रकार की श्रेणियों पर किया गया व्यय जोड़ लिया जाता है।

(ii) निवेश

निवेश नियत अवधि में पूंजी के स्टॉक की *वृद्धि* को कहते हैं। सकल घरेलू निजी निवेश इसी पूंजी स्टॉक की समस्त वृद्धि का मान होता है। मध्यवर्ती वस्तुएं तो पूरी तरह से अन्य वस्तुओं के निर्माण में काम आ जाती हैं, किंतु, पूंजी के काम आने की प्रक्रिया बहुत धीमी रहती है। उदाहरण के लिए एक इस्पात के कारखानों में लगी मशीनें तो 50 वर्ष तक काम करती रह सकती हैं। किसी एक वर्ष में उत्पादन करते समय तो संभवत: उन मशीनों के 1/50 अंश की ही घिसावट होती है। पूंजी की इसी घिसावट को हम मूल्य ह्रास का नाम देते हैं। यह *मूल्य ह्रास उत्पादन की प्रक्रिया में वर्तमान पूंजी भण्डार के उपयुक्त अंश के मूल्य के समान होता है।* सामान्यत: मूल्य ह्रास की दर पूर्वनिर्धारित रहती है- उसी के अनुसार किसी भौतिक पूंजीगत पदार्थ की वर्ष भर की घिसावट का मूल्यांकन किया जाता है। इसे ही *पूंजी के उपभोग का प्रावधान*[1] कहा जाता है। हम निवेश को दो प्रकार से व्यक्त करते हैं: सकल निवेश तथा शुद्ध निवेश। इनके बीच का अंतर वस्तुत: मूल्य ह्रास ही होता है। *सकल निवेश में से मूल्य ह्रास के आंकड़े घटाकर ही शुद्ध निवेश* का मान प्राप्त होता है।

अर्थव्यवस्था में निवेश गतिविधियों की चार श्रेणियां होती हैं:

(क) व्यावसायिक स्थिर निवेश

(ख) भण्डार निवेश

(ग) गृह-निर्माण में निवेश

(घ) सार्वजनिक निवेश

(क) व्यावसायिक स्थिर निवेश (BFI): यह फर्मों द्वारा नवनिर्मित यंत्र-संयंत्रों पर किए गए व्यय का योग है। इसके दो माप हैं: सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश (GBFI) तथा शुद्ध व्यावसायिक स्थिर निवेश (NBFI)। इनका अंतर यंत्र-संयत्र आदि के मूल्य ह्रास प्रावधान के समान रहता है।

हम उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं में (उन्हें बनाने प्रयुक्त) मशीनों के उत्पादन को भी जोड़ लेते हैं। इसी कारण से दौहरी गणना की संभावना पैदा हो जाती है। इसका निवारण करने के लिए ही मूल्य ह्रास को घटाया जाता है। यदि हम निवेश (और इसके माध्यम से घरेलू उत्पाद से) से प्रतिवर्ष पूंजी की अनुमानित घिसावट घटाते चले जाएंगे तो उस मशीन की जीवन अवधि में कुल मिलाकर उसके मूल्य के समान राशि को घरेलू उत्पाद में से घटा पाने में हम सफल रहेंगे। इस प्रकार से घरेलू उत्पाद की गणना में पूंजीगत परिसंपत्ति और उसके उत्पादन, दोनों को ही जोड़ने के दोष (दोहरी गणना) का निवारण हो जाता है। यह व्यावसायिक स्थिर निवेश फर्मों द्वारा अपनी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए सोच विचार कर किए गए निर्णय का परिणाम होता है।

---

[1] किसी पूंजीगत साधन के प्रयोग के दौरान उसमें कुछ न कुछ टूट-फूट अवश्य होती है। अत: उत्पादन के सही लेखांकन के लिए इस प्रकार से पूंजी की घिसावट का हिसाब लगाना बहुत आवश्यक होगा।

(ख) भंडार निवेश: यह निवेश कच्चेमाल, *अद्र्धनिर्मित* वस्तुओं तथा विक्रय के लिए तैयार माल के भण्डार में शुद्ध परिवर्तन के समान होता है। ये तात्कालिक उत्पादन का वह अंश है जिसे बाजार में अभी तक बेचा नहीं गया है- अत: इसका आकलन भी आवश्यक है, वरना हमारे तात्कालिक उत्पादन के आंकड़े अधूरे रह जाएंगे।

भण्डार में ये परिवर्तन सामान्यत: मांग और आपूर्ति में अल्पकालिक तालमेल के अभाव का परिणाम होते हैं। आय के स्तर के निर्धारण में स्टॉक के ये परिवर्तन बहुत महत्त्व रखते हैं। उदाहरण के लिए यदि टेलीविजनों की मांग एक दम से दुगुनी हो जाए तो तुरंत उत्पादन को दुगुना कर पाना संभव नहीं होगा। मांग में इस वृद्धि का पहला प्रभाव तो अर्थव्यवस्था में उत्पादकों, वितरकों तथा विक्रेताओं के पास उपलब्ध टेलीविजनों के स्टॉक में कमी होगी। वे इस प्रकार से मांग के उछाल को पूरा करने का प्रयास करते हैं। साथ ही साथ उत्पादन वृद्धि का प्रयास भी आरंभ कर दिया जाता है। इसके विपरीत मांग में भारी कमी के कारण जब तक उत्पादन में कटौती संभव नहीं हो पाती, सभी स्तरों पर भण्डार गृहों में माल जमा होता रहता है।

(ग) गृह-निर्माण निवेश: यह मकानों के निर्माण पर खर्च की गई राशि होती है। इसका आकलन भी सकल और शुद्ध स्वरूपों में किया जाता है- दोनों का अंतर मूल्य ह्रास के समान होता है।

(घ) सार्वजनिक निवेश: इसमें सरकार द्वारा सड़कों, स्कूलों और अस्पताल आदि के निर्माण पर व्यय की गई राशियों का योग सम्मिलित रहता है। यहां भी मूल्य ह्रास के प्रावधान के आधार पर सकल और शुद्ध निवेश का आकलन होता है।

अब हम निवेश के दो स्वरूपों को इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं:

सकल निवेश = सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश + सकल गृह-निर्माण निवेश + सकल सार्वजनिक निवेश + भंडार निवेश

शुद्ध निवेश = शुद्ध व्यावसायिक स्थिर निवेश + शुद्ध गृह-निर्माण निवेश + शुद्ध सार्वजनिक निवेश + भंडार निवेश

यह तो आप जानते ही हैं कि सकल और शुद्ध निवेश का अंतर मूल्य ह्रास है।

(iii) सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी

यह घटक सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं पर व्यय को दर्शाता है। यह तो आपको याद होगा ही कि सरकार के व्यय को ही उसके उत्पादन में योगदान के तुल्य माना जाता है।

वैसे तो वास्तव में सरकार द्वारा निजी उत्पादकों से ये सारी खरीदारी मध्यवर्ती मानी जानी चाहिए और उस द्वारा मजदूरी-वेतन आदि के भुगतान राष्ट्रीय लेखे के आय पक्ष में जोड़े जाने चाहिए। किंतु परंपरा से ही सरकार की सारी खरीदारी को अंतिम उत्पादन पर व्यय माना जाता है।

हमने उपर्युक्त चर्चा में सरकार को वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादक माना है। यह सरकार का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। किंतु साथ ही हमें सरकार की गतिविधि के दूसरे आयाम को भी ध्यान रखना चाहिए। सरकार अनेक व्यक्तियों और फर्मों को सामाजिक क्षतिपूर्ति के रूप में भी भुगतान करती है- यह सरकार के सामाजिक दायित्व का अंग है। ये सरकार द्वारा परिवारों की आय के सहायतार्थ तथा फर्मों को उत्पादन सहायतार्थ किए गए भुगतानों का योगफल है। इन अंतरणों या हस्तांतरण भुगतान को

सकल घरेलू उत्पाद में नहीं जोड़ते- क्योंकि इनके बदले सरकार को कोई वस्तु या सेवा नहीं मिलती। ये हस्तांतरण सरकार की जनहितार्थ गतिविधियों का ही अंग होते हैं।

(iv) निवल निर्यात

यह निर्यात (X) तथा आयात (M) का अंतर होता है। अर्थात् (X-M)।

अर्थव्यवस्था में व्यय प्रवाहों के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद उपभोग, निवेश, राजकीय व्यय और निवल निर्यात के योगफल के समान होता है।

दूसरे शब्दों में

$$GDP = C + I + G + (X - M)$$

यहां C = परिवारों का उपभोग व्यय

I = फर्मों का निवेश व्यय

G = सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी

X-M = निवल निर्यात

सकल घरेलू उत्पाद : आय का एक मापक

सकल घरेलू उत्पाद के मापन की तीसरी विधि सभी वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन की प्रक्रिया में सृजित साधन आय का योग होती है। प्रत्येक उत्पादित वस्तु के मूल्य के समतुल्य ही आय भी सृजित हो जाती है। अत: यदि हम सभी आयों का योग कर लें तो वे आंकड़े भी सारे उत्पादन के मूल्य के समान ही होंगे। यहां इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल उन्हीं आयों का योगफल किया जाए जो उसी नियत अवधि में किए गए उत्पादन के कारण सृजित हुई हैं।

साधन आय के घटक ये होते हैं:

(1) कर्मचारियों को दिया गया पारिश्रमिक

(2) लाभ

(3) लगान/किराया-भाड़ा

(4) ब्याज

(5) मिश्रित आय

आइए, इन पांचों घटकों पर कुछ विस्तार से भी विचार करें।

1. कर्मचारियों को दिया गया पारिश्रमिक

यह पारिश्रमिक सामान्यत: सकल घरेलू उत्पाद के निर्माण की प्रक्रिया में सृजित आय का सबसे बड़ा घटक होता है। यह श्रमिकों को दी गई मज़दूरी, वेतन तथा अन्य हितलाभों का योग होता है। इसमें नकद तथा वस्तु स्वरूप, दोनों प्रकार के भुगतान सम्मिलित किए जाते हैं।

2. लाभ

व्यवसाय को सुचारु रूप से चलाने के लिए फर्मों के स्वामियों को मिलने वाला प्रतिफल ही लाभ कहलाता है। बाज़ार व्यवस्था में तो लाभ कमाने का ध्येय ही फर्मों को उत्पादन के लिए प्रेरित करता है।

3. लगान/भाड़ा

यह आय भवन, भूमि आदि के स्वामियों को मिला प्रतिफल है। यह इस प्रकार की परिसंपत्तियों के अस्थायी रूप से प्रयोग का प्रतिफल होता है। इसी स्वरूप में हम इसे राष्ट्रीय आय के लेखांकन में सम्मिलित करते हैं।

4. ब्याज

एक ओर परिवार ब्याज पाते हैं तो दूसरी ओर चुकाते भी हैं। ब्याज ऋणी द्वारा ऋणदाता को पूंजी के प्रयोग के बदले में दिया गया प्रतिफल है हम ब्याज को सकल घरेलू उत्पाद मे शामिल करते हैं।

5. मिश्रित आय

अनिगमित व्यवसायों में प्राय: आय को ब्याज मजदूरी, भाड़ा और लाभ में विभाजित कर पाना संभव नहीं

होता। उदाहरण के लिए स्वरोज़गार में लगे व्यक्ति की सारी आमदनी का आकलन तो हो सकता है पर उसमें से ब्याज, भाड़ा, मजदूरी आदि का पृथक्कीकरण संभव नहीं होता है।

आय के ये उपर्युक्त पांचों घटक मिलकर सकल घरेलू उत्पाद की रचना करते है। इनका अर्थव्यवस्था की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण निहित प्रभाव भी होता है। सकल उत्पाद में इनके सापेक्ष अंश हमें समय के साथ-साथ आय प्रवाहों के परिवर्तनों की जानकारी भी प्रदान करते हैं।

हम अपने तालिका 3.1 के उदाहरण का प्रयोग कर यह स्पष्ट कर सकते हैं कि किस प्रकार से समस्त मूल्य वृद्धि का मान ही सभी प्रकार की आयों के योग के समान हो जाता है।

संसाधन आयों के योग द्वारा आकलित सकल घरेलू उत्पाद के मान को हम *सकल घरेलू आय* (GDI) का नाम भी दे सकते हैं।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP)

सकल घरेलू उत्पाद में विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय जोड़कर हम सकल राष्ट्रीय उत्पादन के आंकड़े प्राप्त करते हैं। यह विदेशों से प्राप्त शुद्ध साधन आय क्या है? इसमें क्या कुछ सम्मिलित रहता है?

विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय शेष विश्व से प्राप्त हुई संसाधन आय तथा घरेलू क्षेत्र में गैर-निवासियों की संसाधन सेवाओं के प्रतिफल का अंतर होती है। हम जानते ही हैं कि संसाधन आय में कर्मचारियों के पारिश्रमिक, और संपत्ति तथा उद्यम से प्राप्त आय शामिल रहती हैं। अत: विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय का मान इन्हीं मदों पर विदेशों से प्राप्तियों तथा विदेशियों को भुगतानों के अंतर के समान होगा। ये आकलन भी वर्ष भर की अवधि के लिए किए जाते हैं। विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय के घटक इस प्रकार होते हैं:

(i) कर्मचारियों को शुद्ध पारिश्रमिक (Net compensation to employees)
(ii) संपत्ति और उद्यम से शुद्ध आय- इसमें भाड़ा, ब्याज व लाभ सम्मिलित हैं।
(iii) निवासी कंपनियों की विदेशों में शुद्ध प्रतिधारित आय

अब हम कह सकते हैं कि:

सकल घरेलू उत्पाद + विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय = सकल राष्ट्रीय उत्पाद

अब हम सकल राष्ट्रीय उत्पाद और सकल घरेलू उत्पाद का अंतर बहुत स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। इनका अंतर वास्तव में विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय का अंतर ही होता है। यह ध्यान रहे कि सकल घरेलू उत्पाद का (X-M) घटक संसाधन आय से अलग वस्तुओं और सेवाओं के शुद्ध व्यापार को ही दर्शाता है।

वास्तविक एवं मौद्रिक सकल राष्ट्रीय उत्पाद

सकल राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन तो आप समझ ही चुके हैं। आइए, अब कीमत स्तर के परिवर्तनों के राष्ट्रीय आय समुच्चयों पर प्रभावों की समीक्षा की ओर ध्यान दें। इस कार्य के लिए हमें राष्ट्रीय आय के आंकड़ों का *"प्रचलित कीमतों "* तथा *"स्थिर कीमतों"* पर आकलन सीखना होगा।

प्रचलित (बाज़ार) कीमतें

यदि राष्ट्रीय आय के GNP आदि समुच्चयों का आकलन बाजार में प्रचलित कीमतों के आधार पर किया जाता है तो प्राप्त आंकड़ों को हम "मौद्रिक आय" की संज्ञा देते हैं। यहां मौद्रिक GNP वस्तुओं और सेवाओं के तात्कालिक उत्पादन का बाजार में प्रचलित कीमतें पर मूल्यांकन दर्शा रही है। अत: इसमें परिवर्तन के तीन कारण हो सकते हैं: या तो कीमतों में

परिवर्तन हो या उत्पादन के आकार के बदलाव आए या फिर उत्पादन के आकार तथा बाज़ार कीमतों में एक साथ परिवर्तन आ जाएं।

स्थिर कीमतें

कई बार तुलना करने की दृष्टि से हमें ऐसे आंकड़ों की आवश्यकता हो जाती है जहां केवल उत्पादन के आकार में परिवर्तन की जानकारी देने वाले आय मापक ही काम आ सकते हैं। इस प्रकार के मापक का आकलन, जो कीमतों के उतार-चढ़ाव के प्रभाव से मुक्त हो, ही स्थिर कीमतों पर आकलन कहलाता है। इसी आधार पर आकलित GNP को हम वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद कहते हैं। इस आकलन की सामान्य विधि में GNP के मान का मूल्यांकन पहले से ही नियत किसी आधारवर्ष की कीमतों पर किया जाता है।

वास्तविक GNP की गणना के ये फायदे रहते हैं:

(क) यह वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के अर्थव्यवस्था की सामान्य वास्तविक विकास क्षमता पर प्रभावों को समझने में सहायक होते हैं। मौद्रिक GNP इस कार्य में उपयोगी नहीं रहती क्योंकि उसमें उत्पादन के स्तर के परिवर्तनों को कीमत स्तर के परिवर्तनों से अलग कर पाना संभव नहीं होता।

(ख) वास्तविक GNP द्वारा ही हम वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि की वर्षानुसार तुलना कर पाते हैं। वास्तविक GNP में वृद्धि का दौर अर्थव्यवस्था के प्रसार की अवस्था का सूचक होता है। इसके विपरीत जब अर्थव्यस्था में संकुचन की स्थिति चल रही हो तो वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद में निरंतर कमी दिखाई पड़ती है।

(ग) वास्तविक सकल राष्ट्रीय आय के आंकड़ों का प्रयोग कर विभिन्न देशों की अर्थव्यवस्थाओं के निष्पादन स्तरों की भी तुलना की जाती है।

हम वास्तविक और मौद्रिक सकल राष्ट्रीय उत्पाद की संकल्पनाओं की व्याख्या तो कर ही चुके हैं। आइए, अब उस विधि पर भी कुछ ध्यान दें जिसके माध्यम से हम वास्तविक GNP की सुगमतापूर्वक गणना कर पाएंगे।

आकलन में स्थिर कीमतों के प्रयोग का एक ही ध्येय होता है: कीमतों में उतार-चढ़ाव के प्रभाव को समाप्त करना। इसीलिए हम चालू वर्ष की मौद्रिक GNP का मूल्यांकन किसी पूर्ववर्ती आधार वर्ष में प्रचलित रही कीमतों पर करना चाहते हैं। संभवत: आपको कक्षा XI के सांख्यिकी के अध्ययन से यह तो ज्ञात ही होगा कि कीमत स्तर के परिवर्तन को थोक कीमत सूचक तथा उपभोक्ता कीमत सूचक से मापा जाता है।[2]

यदि हम विभिन्न वर्षों के GNP के प्रचलित कीमतों पर आंकड़ों की तुलना करना चाहे तो एक गंभीर समस्या उठ खड़ी होगी। हम यह नहीं समझ पाएंगे कि आंकड़ों में कितना परिवर्तन कीमतों में बदलाव के कारण आया है और उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन किस सीमा तक उत्तरदायी हैं। इसीलिए GNP के परिवर्तन द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में परिवर्तन की वास्तविकता को समझने के लिए ही हमें कीमतों के परिवर्तन के प्रभावों को दूर करना होगा।

---

[2] उपभोक्ता सूचक अंक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्व निर्धारित मात्राओं के लिए अंतिम उपभोक्ता द्वारा चलाई गई कीमतों में औसत परिवर्तनों को दर्शाता है। सामान्यत: कोई भी कीमत सूचक अंक कीमतों के परिवर्तनों को एक आंकड़े के माध्यम से व्यक्त कर देता है। ये थोक कीमत सूचक थोक बाजार की कीमतों मे उतार-चढ़ाव मापते हैं तो उपभोक्ता सूचक खुदरा बाज़ार कीमतों के आकलन का आधार बनाते हैं।

हम एक उदाहरण के माध्यम से मौद्रिक और वास्तविक GNP की गणना तथा GNP अपस्फायक (GNP Deflator) की आकलन विधि को समझा रहे हैं। देखिए तालिका 3.2

हमारी उपर्युक्त काल्पनिक अर्थव्यवस्था में केवल तीन प्रकार के अंतिम उत्पादन होते हैं। यहां

संतरे : उपभोक्ता वस्तु
कंप्यूटर : निवेश वस्तु
कपड़ा : सरकारी प्रयोग की वस्तु है।

आइए, पहले व्यय विधि का प्रयोग कर मौद्रिक GNP की गणना करें। इस विधि में हम तीनों वस्तुओं पर चालू वर्ष में किए गए खर्च का योग करेंगे।

संतरों पर उपभोग व्यय 4,452 रुपये है और कंप्यूटरों पर किया गया निवेश व्यय 10,500 रुपये रहा। सरकार द्वारा कपड़े की खरीद पर 1,060 रुपये व्यय किए गए। इनका योग हुआ 4,452 + 10,500 + 1,050 = 16,012 रुपये। अर्थात इस वर्ष में मौद्रिक GNP का मान 16,012 रुपये रहा।

तालिका 3.2: मौद्रिक GNP, वास्तविक GNP तथा GNP अपस्फायक

		चालू वर्ष		आधार वर्ष	
वस्तु	मात्रा	कीमत (रुपये)	व्यय (रुपये)	कीमत (रुपये)	व्यय (रुपये)
संतरे	4240 किलो	1.05 प्रति किलो	4452	1.00 प्रति किलो	4240
कंप्यूटर	5	2100.00	10500	2000.00 प्रति	10000
कपड़े की सरकारी खरीदारी	1060 मीटर	1रु. प्रति मीटर	1060	1.00 प्रति मीटर	1060
			मौद्रिक GNP 16012		**वास्तविक GNP** 15300

तालिका 3.2 की जानकारी का प्रयोग कर हम चार प्रकार के अपस्फायकों की परिभाषा कर सकते हैं। ये हैं:

$$GNP \text{ अपस्फायक} = \frac{\text{मौद्रिक } GNP}{\text{वास्तविक } GNP} \times 100 = \frac{\text{रु. } 16012}{\text{रु. } 15300} \times 100 = 104.7$$

$$\text{उपभोग व्यय अपस्फायक} = \frac{\text{वर्तमान उपभोग व्यय}}{\text{आधारवर्ष का उपयोग व्यय}} \times 100 = \frac{\text{रु. } 4452}{\text{रु. } 4240} \times 100 = 105.00$$

$$\text{निवेश अपस्फायक} = \frac{\text{वर्तमान निवेश}}{\text{आधार निवेश}} \times 100 = \frac{\text{रु. } 10500}{\text{रु. } 10000} \times 100 = 105.00$$

$$\text{सरकारी व्यय अपस्फायक} = \frac{\text{वर्तमान सरकारी व्यय}}{\text{आधारवर्ष सरकारी व्यय}} \times 100 \ \frac{\text{रु. } 1060}{\text{रु. } 1060} \times 100 = 100.00$$

आइए, अब वास्तविक GNP के आंकलन का प्रयास करें। यह वर्तमान परिमाणों का आधारवर्ष की कीमतों पर मूल्यांकन द्वारा संभव हो पाता है। इस तालिका 3.2 में आधार कीमतों पर उपभोग 4,240 रुपये, निवेश, 10,000 रुपये और सरकारी व्यय 1,060 रुपये रहे। अत: इनका योग, 4,240 + 10,000 + 1,060 = 15,300 रुपये ही वास्तविक GNP का मान होगा।

आइए अब अंत में अपस्फायक की संकल्पना पर भी विचार करें। GNP अपस्फायक उन सब वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत का मान है जिन्हें मिलाकर GNP की रचना होती है। यह मौद्रिक और वास्तविक GNP के अनुपात को 100 से गुना करके ज्ञात किया जाता है। हमारे तालिका 3.2 के उदाहरण में मौद्रिक GNP=16,012 रुपये तथा वास्तविक GNP =15,300 रु.। अत: इनके अनुपात
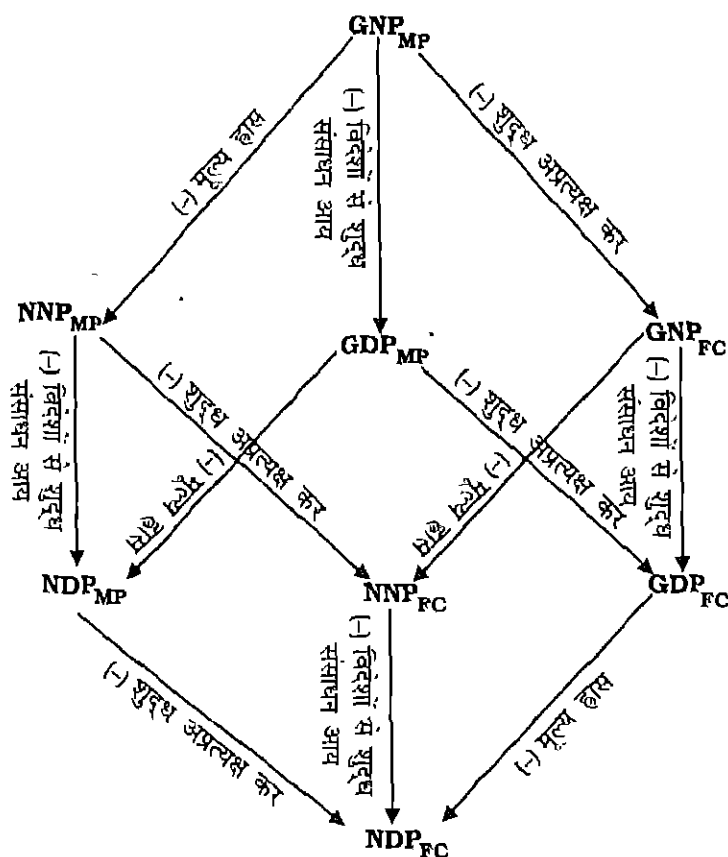
चित्र 3.1: राष्ट्रीय आय के विभिन्न मापकों के परस्पर संबंध

स्रोत: विल्फ्रेड बेकरमैन, 1999[3]

[3] विल्फ्रेड बेकरमैन, *एन इंट्रोडक्शन टू नेशनल इंकम एनालिसिस*, तीसरा संस्करण, यूनीवर्सल बुक स्टाल, नई दिल्ली, 1999

को 100 से गुना कर हमें GNP अपस्फायक का मान 104.7 प्राप्त होता है।

हम अलग-अलग व्यय वर्गों के लिए पृथक-पृथक अपस्फायकों का आंकलन भी कर सकते हैं। तालिका 3.2 के नीचे सूत्र रूपी गणनाओं में यही कार्य किया गया है।

राष्ट्रीय आय लेखे के महत्वपूर्ण समुच्चय

सारे राष्ट्रीय आय लेखांकन की सबसे महत्वपूर्ण संकल्पना सकल राष्ट्रीय उत्पाद है। इसी के आधार पर हम अन्य मापकों या समुच्चयों की व्युत्पत्ति करते हैं। ये सभी मापक राष्ट्रीय अर्थतंत्र के निष्पादन के किसी न किसी पक्ष की व्याख्या में विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध होते हैं। ये सभी संकल्पनाएं/मापक/समुच्चय किसी न किसी रूप में परस्पर संबंधित भी होते हैं। हमारा चित्र 3.1 इसी तथ्य को उजागर कर रहा है। इस चित्र में हमें राष्ट्रीय आय की 8 अवधारणाएं स्पष्ट दिखाई दे रही हैं। चित्र में दर्शाये गए दिशा संकेतों का अनुसरण कर उन सभी समुच्चयों का आकलन किया जा सकता है।

हमारा चित्र 3.1 राष्ट्रीय उत्पाद के निम्न 8 समुच्चयों को प्रस्तुत कर रहा है:

1. बाज़ार कीमतों पर GNP (GNP_{MP})[4] = अर्थव्यवस्था में उत्पादित सभी अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य + विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय
2. बाजार कीमतों पर NNP (NNP_{MP}) = GNP_{MP} – मूल्य ह्रास
3. बाजार कीमतों पर GDP (GDP_{MP}) = GNP_{MP} – विदेशों से शुद्ध संसाधन आय
4. बाजार कीमतों पर NDP (NDP_{MP}) = GDP_{MP} – मूल्य ह्रास
5. संसाधन लागत पर GNP (GNP_{FC}) = + विदेशों से शुद्ध संसाधन आय - शुद्ध अप्रत्यक्ष कर
6. संसाधन लागत पर NNP (NNP_{FC}) = GNPFC – मूल्य ह्रास
7. संसाधन लागत पर GDP (GDP_{FC}) = GDP_{MP} – शुद्ध अप्रत्यक्ष कर
8. संसाधन लागत पर NDP (NDP_{FC}) = GDP_{FC} – मूल्य ह्रास

राष्ट्रीय निर्वर्त्य (प्रयोज्य) आय[5]

हम उपर्युक्त 8 संकल्पनाओं के साथ राष्ट्रीय निर्वर्त्य आय की अवधारणा को भी सम्मिलित कर सकते हैं। यह राष्ट्रीय निर्वर्त्य आय वर्ष भर की अवधि में देश

---

[4] हम किसी भी समुच्चय के मान को बाज़ार कीमतों या संसाधन लागत पर अभिव्यक्त कर सकते हैं। जब हम प्रचलित या चालू अवधि की कीमतों पर मूल्यांकन करते हैं तो उन आंकड़ों को बाज़ार कीमत के आंकड़े भी कह देते हैं। यदि सकल मूल्य वृद्धि का आकलन बाज़ार में प्रचलित कीमतों के आधार पर किया गया हो तो उसे बाज़ार कीमतों पर मूल्य वृद्धि कहा जाता है। इसके विपरीत यदि मूल्य वृद्धि के अनुमान तक पहुँचने के लिए भूमि, श्रम, पूँजी और उद्यम को किए गए संसाधन आय भुगतानों को जोड़ा गया हो तो यह अनुमान संसाधन लागत पर मूल्य वृद्धि कहा जाता है। आपको ध्यान होगा, हमने तालिका 3.1 में मजदूरी, भाड़ा, ब्याज और लाभ के योगफल द्वारा मूल्य वृद्धि का आकलन किया था। इसी प्रकार से राष्ट्रीय आय की सभी अवधारणाएं या समुच्चयों की बाज़ार कीमतों, और संसाधन लागत पर अभिव्यक्ति की जा सकती है– उनका अंतर केवल शुद्ध अप्रत्यक्ष करों के समान होता है।

[5] राष्ट्रीय आय के समुच्चयों के संदर्भ में 'घरेलू' और 'राष्ट्रीय' शब्दों में भेद पर एक बार फिर ध्यान देना उचित रहेगा। घरेलू से हमारा तात्पर्य अर्थव्यवस्था के 'घरेलू क्षेत्र' से है। अतः घरेलू उत्पाद का अर्थ होगा किसी देश में सामान्यतः निवास करने वालों द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य। इस प्रकार से आकलित घरेलू उत्पादन में विदेशों में प्राप्त शुद्ध संसाधन आय जोड़ने से प्राप्त राशि को ही राष्ट्रीय उत्पाद कहा जाता है।

के निवासियों को सभी स्रोतों से हुई प्राप्तियों का वह अंश है जिसे वे अपनी ईच्छानुसार उपभोग पर व्यय करने या बचा कर रखने को स्वतंत्र होते हैं। इसका मान होता है:

राष्ट्रीय निर्वर्त्य आय = NNP_{MP} + शेष विश्व से प्राप्त चालू खाते के अंतरण[6]

यह किसी देश को उपलब्ध अधिकतम आमदनी का मान होता है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिए उसकी वैयक्तिक प्रयोज्य आय (वैयक्तिक आय–वैयक्तिक कर) होती है उसी प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय निर्वर्त्य आय को समझा जा सकता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं को उन सामान्य *सिद्धांतों* के रूप में भी समझा जा सकता है जिनके आधार पर ये अवधारणाऐं बनाई गई है। व्यवहार में प्रत्येक देश इन संकल्पनाओं की रचना की अपनी ही विधियों का प्रयोग करता है। इस कारण से उनकी परिभाषाओं में भी कुछ न कुछ अंतर आ जाते हैं। भारत में वर्ष 1975 से ही राष्ट्रीय आय लेखांकन का कार्य मानक राष्ट्रीय लेखा *पद्धति* (SNA) के अनुसार किया जा रहा है। इसी के कारण बाद के वर्षों में हमारे सांख्यिकीय व्यक्तव्यों के प्रसार और आंकड़ागत आधार में बहुत निखार आया है। आजकल हम SNA–1993 का अनुसरण कर रहे हैं।

राष्ट्रीय उत्पाद और राष्ट्रीय आय की संकल्पनाए: सार संक्षेप

GNP_{MP} = अर्थव्यवस्था में उत्पादित सभी अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य + विदेशों से शुद्ध संसाधन आय।

NNP_{MP} = GNP_{MP} – मूल्य ह्रास

GDP_{MP} = GNP_{MP} – विदेशों से शुद्ध संसाधन आय

NDP_{MP} = GDP_{MP} – मूल्य ह्रास

GNP_{FC} = GNP_{MP} – शुद्ध अप्रत्यक्ष कर

NNP_{FC} = GNP_{FC} – मूल्य ह्रास = राष्ट्रीय आय

GDP_{FC} = GDP_{MP} – शुद्ध अप्रत्यक्ष कर

NDP_{FC} = GDP_{FC} – मूल्य ह्रास

राष्ट्रीय उत्पाद को मापने की तीन विधियां

(i) *मूल्य वृद्धि विधि/उत्पादन विधि*

GNP_{MP} = (प्राथमिक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य–प्राथमिक क्षेत्र में मध्यवर्ती उपभोग)+ (द्वितीयक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य–द्वितीयक क्षेत्र में मध्यवर्ती उपभोग) + (तृतीयक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य–इस क्षेत्र में मध्यवर्ती उपभोग) + विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय।

(ii) *आय विधि*

GNP_{MP} = कर्मचारियों के प्रतिफल (मजदूरी एवं वेतन + सामाजिक सुरक्षा योजनाओं में रोजगार दाताओं का योगदान) + लाभ + लगान/भाड़ा + ब्याज + मिश्रित आय + मूल्य ह्रास + शुद्ध अप्रत्यक्ष कर (अप्रत्यक्ष कर–अनुदान) + विदेशों से शुद्ध संसाधन आय।

(iii) *व्यय विधि*

GNP_{MP} = वैयक्तिक उपभोग व्यय + सकल निवेश (सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश + भण्डार निवेश + सकल गृह-निर्माण व्यय + सकल सार्वजनिक निवेश) + सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी + शुद्ध निर्यात (निर्यात–आयात) + विदेशों से शुद्ध संसाधन आय।

आइए, कुछ उदाहरणों के माध्यम से राष्ट्रीय आय के विभिन्न समुच्चयों के आकलन का अभ्यास

[6] शेष विश्व से चालू खाते के अंतरणों मे उपहार, नकदी, उपभोक्ता पदार्थ और सैन्य साज-समान आदि कुछ भी सम्मिलित हो सकते हैं।

करें। इनसे हमें इन संकल्पनाओं को और भली प्रकार समझने में भी सहायता मिलेगी।

उदाहरण 1: निम्न आंकड़ों का प्रयोग कर व्यय विधि से बाज़ार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन करें।

	(करोड़ रुपये)
i. भण्डार निवेश	10
ii. निर्यात	20
iii. विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(−5)
iv. वैयक्तिक उपभोग व्यय	350
v. गृह निर्माण में सकल निवेश	30
vi. सरकार द्वारा वस्तुओं-सेवाओं की खरीद	100
vii. सकल सार्वजनिक निवेश	20
viii. सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश	30
ix. आयात	10

उत्तर:

GNP_{MP} =

वैयक्तिक उपभोग व्यय	= 350
+ सकल निवेश	= 90
इसमें सम्मिलित है:	
सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश	= 30
सकल गृह निर्माण निवेश	= 30
सकल सार्वजनिक निवेश	= 20
भण्डार निवेश	= 10
योग	= 90
+ सरकार द्वारा वस्तुओं-सेवाओं की खरीद	= 100
+ शुद्ध निर्यात	= 10
निर्यात	= 20
आयात	= (−) 10
शुद्ध निर्यात	= 10
+ विदेशों से प्राप्त शुद्ध संसाधन आय	= (−)5

अत: GNP_{MP} = 545 करोड़ रुपये

उदाहरण 2: निम्न जानकारी के आधार पर आय विधि से बाज़ार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन करें:

	(रुपये, करोड़)
i. मजदूरी और वेतन	700
ii. लगान/भाड़ा	100
iii. मूल्य ह्रास	50
iv. विदेशों से शुद्ध साधन आय	(−)10
v. मिश्रित आय	400
vi. सहाय्य/अनुदान	100
vii. लाभ	400
viii. अप्रत्यक्ष कर	300
ix. सामाजिक सुरक्षा में रोज़गार दाताओं का योगदान	50
x. ब्याज	40

उत्तर:

कर्मचारियों के प्रतिफल		750
मजदूरी और वेतन	= 700	
+ सामाजिक सुरक्षा में रोज़गारदाताओं का योगदान	= 50	
+ लाभ		400
+ लगान/भाड़ा		100
+ ब्याज		40
+ मिश्रिम आय		400
+ मूल्य ह्रास		50
+ शुद्ध अप्रत्यक्ष कर		200
अप्रत्यक्ष कर	= 300	
(−) सहाय्य	= 100	
+ विदेशों से शुद्ध संसाधन आय		(−) 10
GNP_{MP}		1930

अत: GNP_{MP} = 1930 करोड़ रुपये

उदाहरण 3: निम्न जानकारी का प्रयोग कर मूल्य वृद्धि विधि द्वारा बाजार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन करें:

		(रु. करोड़)
i.	प्राथमिक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य	1,000
ii.	विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(-)20
iii.	तृतीयक (सेवा) क्षेत्र उत्पादन का मूल्य	700
iv.	द्वितीयक क्षेत्र का मध्यवर्ती उपभोग	400
v.	द्वितीयक क्षेत्र के उत्पादन का मूल्य	900
vi.	प्राथमिक क्षेत्र का मध्यवर्ती उपभोग	500
vii.	सेवा क्षेत्र का मध्यवर्ती उपभोग	300

उत्तर

प्राथमिक क्षेत्र में शुद्ध मूल्यवृद्धि	=	500
(प्राथमिक क्षेत्र के उत्पादन का मूल्य)	=	1000
(-) इस क्षेत्र का अंतर्वर्ती उपभोग	=	(-) 500
द्वितीयक क्षेत्र की शुद्ध मूल्य वृद्धि	=	500
+ द्वितीयक (विनिर्माण) क्षेत्र में वृद्धि शुद्ध मूल्य वृद्धि	=	500
द्वितीयक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य	=	900
(-) इस क्षेत्र का मध्यवर्ती उपभोग	=	(-) 400
+ तृतीयक (सेवा) क्षेत्र में शुद्ध मूल्य वृद्धि	=	400
तृतीयक क्षेत्र में उत्पादन का मूल्य	=	700
(-) इस क्षेत्र का अंतर्वर्ती उपभोग	=	(-) 300
+ विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	=	(-) 20

अत: GNP_{MP} = 1380 करोड़ रुपये

उदाहरण 4: निम्न जानकारी के आधार पर संसाधन लागत तथा बाजार कीमतों पर GNP, GDP, NNP और NDP आकलित करें:

		(करोड़ रुपये)
i.	सकल निवेश	90
ii.	शुद्ध निर्यात	10
iii.	शुद्ध अप्रत्यक्ष कर	5
iv.	मूल्य ह्रास	15
v.	विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(-) 5
vi.	वैयक्तिक उपभोग व्यय	350
vii.	सरकार द्वारा वस्तुओं सेवाओं की खरीद	100

उत्तर:

(क) GNP_{MP} =

वैयक्तिक उपभोग व्यय	350
+ सकल निवेश	90
+ सरकार द्वारा वस्तुओं सेवाओं की खरीद	100
+ शुद्ध निर्यात	10
+ विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(-) 5

अत: GNP_{MP} = 545 करोड़ रुपये

(ख) NNP_{MP} = GNP_{MP}(-) मूल्य ह्रास
= रु. 545 – 15
= 530 करोड़ रुपए

(ग) GDP_{MP} = GNP_{MP} – विदेशों से शुद्ध संसाधन आय
= रु. 545 – (-5) = 545 + 5 = 550 करोड़ रुपए

(घ) NDP_{MP} = GDP_{MP} – मूल्य ह्रास
= 550 – 15 = 535 करोड़ रुपए

(च) GNP_{FC} = GNP_{MP} – शुद्ध अप्रत्यक्ष कर
= 545 – 5 = 540 करोड़ रुपए

(छ) NNP_{FC} = GNP_{FC} – मूल्य ह्रास
= 540 – 15 = 525 करोड़ रुपए

(ज) GDP_{FC} = GDP_{MP} – शुद्ध अप्रत्यक्ष कर
= 550 – 5 = 545 करोड़ रु.

(झ) NDP_{FC} = GDP_{FC} – मूल्य ह्रास
= 545 – 15 = 530 करोड़ रुपए

राष्ट्रीय आय के आकलन से अपवर्जित मदें

आपको ध्यान होगा हमने राष्ट्रीय आय को वर्ष भर में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के वास्तविक मूल्य के योगफल द्वारा परिभाषित किया है। वास्तविक अर्थव्यवस्था में इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार का लेन-देन चलता रहता है। इनका उत्पादन से कोई संबंध नहीं होता या फिर ये गैर-बाजार संबंधों से जुड़े रहते हैं, अथवा इनका नाता किसी न किसी गैर कानूनी काम से होता है, जिसका मापन वैसे ही बड़ा अस्पष्ट रहता है। हम अब आपको कुछ ऐसे लेन-देनों से परिचित कर रहे हैं जिन्हें GNP से बाहर ही छोड़ दिया जाता है।

1. विशुद्ध रूप से वित्तीय लेन-देन

इस प्रकार के लेन-देनों की तीन श्रेणियां होती हैं। इनमें केवल वित्तीय दावों का आदान-प्रदान होता है- कोई वास्तविक उत्पादन नहीं होता।

(क) कागज़ी परिसंपत्तियों का क्रय-विक्रय
(ख) सरकार द्वारा हस्तांतरण भुगतान
(ग) निजी हस्तांतरण

आइए, इनके विवरण पर कुछ चर्चा करें:

(क) कागज़ी परिसंपत्तियों का क्रय-विक्रय

हमने मुद्रा के चक्रीय प्रवाहों के चित्र में वित्त व्यवस्था की चर्चा की थी। वहां संभावित बचत एवं निवेश कर्ता अंश-पत्रों व ऋण-पत्रों जैसी वित्तीय परिसंपत्तियों के लेन-देन करते हैं। ये अंश-पत्र स्वामित्व के अधिकार की स्वीकारोक्तियां ही होती हैं। एक व्यक्ति से दूसरे के हाथ में जाने पर नई उत्पादक परिसंपत्तियों का सृजन नहीं होता। इसी प्रकार बॉंड और ऋण-पत्र किन्हीं ऋणों के प्रमाण पत्र मात्र ही होते हैं। इन वित्तीय दावों को बदले *रुपयों का हस्तांतरण ही होता- इस प्रक्रिया में नई वस्तुओं* का सृजन नहीं होता। इसी आधार पर वित्तीय बाज़ार के क्रय-विक्रय को अंतिम उत्पादन के गुणों से हीन मान कर GNP के आकलन से बाहर रहने दिया जाता है।

(ख) सरकार द्वारा हस्तांतरण भुगतान

हमने पहले ही बताया है कि जिन भुगतानों के बदले किन्हीं वस्तुओं/सेवाओं का प्रतिदान नहीं होता है उन्हें ही हस्तांतरण कहा जाता है। इनमें पेंशन, सामाजिक सुरक्षा कोष में से भुगतान, बाढ़-अकाल जैसी आकस्मिकताओं की स्थिति में सहायता राशि और सहाय्य आदि भी शामिल रहते हैं। इन अंतरणों के प्रतिदान स्वरूप किसी प्रकार की अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का सृजन नहीं होता। अत: इन हस्तातंरणों को भी GNP के आकलन में स्थान नहीं मिल पाता।

(ग) निजी हस्तांतरण भुगतान

अभिभावकों द्वारा बच्चों को जेब खर्च, बुजुर्गों द्वारा दिए गए उपहार आदि इसी श्रेणी में आते हैं। ये भी एक व्यक्ति के पास से दूसरे के पास नकदी का हस्तांतरण मात्र ही है। इसी कारण से ये भी GNP में सम्मिलित नहीं किए जाते।

2. इस्तेमाल किए हुए/पुराने सामान का हस्तांतरण

सकल राष्ट्रीय उत्पाद आलोच्च्य वर्ष में उत्पादित अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य होता है। अत: पिछले वर्षों के उत्पादन को इसमें जोड़ना उचित नहीं होगा। किसी व्यक्ति द्वारा पुरानी कार को बेचने से नव उत्पादन के मूल्य के रूप में आय का सृजन नहीं होता- क्योंकि ये कार तो पहले किसी अन्य वर्ष में ही उत्पादित हो चुकी थी। इस प्रकार कार पर व्यय भी पहले से ही अस्तित्व में रही किसी वस्तु के स्वामित्व का परिवर्तन हो होगा।

3. गैर-बाज़ार वस्तुएँ और सेवाएँ

कितनी ही अंतिम वस्तुएँ और सेवाएं बाजार तंत्र से बाहर रह जाती हैं। घर के पिछवाड़े में सब्जियाँ उगाई जा सकती हैं। (इस प्रकार बाज़ार से खरीदारी कम हो जाती है)। यही नहीं कितने ही गृह स्वामी स्वयं छोटी मोटी बिजली की मरम्मत आदि कर बाजार के इलैक्ट्रीशियन की सेवाओं पर खर्च बचा लेते हैं। ये सभी वे अंतिम वस्तुएँ-सेवाएँ हैं जिनका उपयोग संगठित बाज़ार की परिधि से बाहर ही हो जाता है। पर सामान्यत: GNP में बाज़ार के माध्यम से हुए विनिमय ही स्थान पाते हैं। वस्तु विनिमय तथा परिवार द्वारा स्वयं उपभोग के लिए उत्पादन GNP से बाहर रह जाते हैं। इसी संदर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि घरेलू महिलाओं के कार्य का मूल्यांकन किया जाए या नहीं। यदि इस मूल्यांकन पर सहमति भी हो जाए तो उनकी सेवाओं की प्रचलित बाज़ार कीमतों का निर्धारण कोई सहज कार्य नहीं होगा।

4. गैर-कानूनी गतिविधियाँ

वस्तुओं और सेवाओं के अवैध व्यापार के मूल्य को भी GNP में शामिल नहीं किया जाता। वैसे ये वस्तुएं भी वास्तविक वस्तुएं होती हैं और इनका भी बाज़ार में क्रय-विक्रय होता है। इनमें तस्करी, जुआ, नशीली दवाओं की विक्री, पैसे के लिए अपराध और अवैध शस्त्रों की विक्री आदि सम्मिलित हैं।

इन गैर-कानूनी गतिविधियों से एक "भूमिगत अर्थतन्त्र" की रचना हो जाती है। इस तंत्र के 'उत्पादन' का या तो पता नहीं चलता या फिर उसका हिसाब नहीं लग पाता क्योंकि इसमें लिप्त व्यक्ति सरकार के कर-जाल से बचे रहना चाहते हैं। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में इन गैर-कानूनी लेन-देनों के कारण बहुत बड़ी धन राशि, जिसे काला धन कहा जाता है, का भण्डार जमा हो जाता है। यही "समांतर या भूमिगत बाजार" को चलाए रखता है। गैर-बाज़ार वस्तुओं की भांति ही भूमिगत बाज़ार में भी वस्तुओं के परिणाम और कीमतों का सटीक रूप से निर्धारण नहीं हो पाता। इन्हें सामान्यत: देश आर्थिक अपराध मानता है। इसलिए इन्हें GNP से बाहर ही छोड़ दिया जाता है।

5. विश्रामावकाश का मूल्य

विश्रामावकाश को हम एक आर्थिक वस्तु मानते हैं। संभवत: इसका आधार यही है कि अन्य सभी बातें पूर्ववत् रहने पर अधिक विश्रामावकाश की सुलभता को कम की तुलना में बेहतर माना जाता है। आय के स्तर में सुधार होने पर समृद्धि की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति अधिक विश्रामावकाश को ही श्रेयस्कर मानेंगे। इसका अर्थ होगा आर्थिक सुरक्षा की भावना बलवती होने पर समाज के अमीर वर्ग उत्पादन के लिए प्रयास कम कर देंगे और इसके परिणामस्वरूप तो GNP में कमी होने का खतरा पैदा हो जाएगा। पर इसका निश्चित अभिप्राय: यह नहीं होगा कि लोग पहले की अपेक्षा कम खुशहाल रह जाएंगे वास्तव में कार्य की अपेक्षा विश्रामावस्था का चुनाव ही हमारे उपभोक्ताओं के उपयोगिता विषयक आकलन की सूचना दे देता है। फिर भी विश्रामावकाश जैसी 'अदृश्य' वस्तु का सही मूल्यांकन कर उसे GNP में सम्मिलित कर पाना कठिन ही लगता है।

किंतु आज की अर्थव्यवस्थाओं में विश्रामावकाश से जुड़ी अनेक व्यावसायिक गतिविधियां प्रारंभ हो गई हैं। अत: भले ही विश्रामावकाश का सही मूल्यांकन नहीं हो पाए, पर इससे जुड़ी गतिविधियों के लिए व्यावसायिक आधार पर प्रदान की जा रही सेवाओं का मूल्यांकन तो हो ही जाता है। इन विश्रामावकाशीय गतिविधियों की मध्यम एवं धनिक वर्गों में बहुत 'मांग' पायी जाती है।

फिर भी हम राष्ट्रीय लेखों में इस स्थान नहीं दे पाते क्योंकि इसका प्रत्यक्ष मूल्यांकन संभव नहीं होता

और अध्यारोपित मूल्य का निर्धारण न केवल कठिन होता है बल्कि आगे किसी प्रकार के विश्लेषण की दृष्टि से अनुपयोगी भी रहता है।

क्या GNP आर्थिक क्षेम का मापन करता है?

बहुत समय से अर्थशास्त्री आर्थिक संवृद्धि और विकास के मापक के रूप में GNP का प्रयोग निस्संकोच करते आ रहे हैं। राष्ट्रीय आय को 'अधिकतम' करने को संवृद्धि के अधिकतम होने का पर्याय माना जाता रहा है। इसलिए GNP की वृद्धि को अर्थव्यवस्था के लिए अच्छा और उसकी कमी को बुरा माना गया है। किंतु इस विषय में अब अनेक प्रश्न भी उठने लगे हैं। जैसे कि: संवृद्धि क्या है? ये क्या होनी चाहिए? GNP में वृद्धि होने पर आय व संपत्ति के विभाजन पर क्या प्रभाव होगा? इस GNP की वृद्धि का अनवीनीय (Non-renewable) प्राकृतिक संसाधनों पर क्या प्रभाव होगा? क्या राष्ट्रीय आय की वृद्धि से राष्ट्रीय क्षेम के स्तर में निश्चित रूप से सुधार होता है? क्या राष्ट्रीय आय की वृद्धि जीवन की गुणवत्ता और मानवीय विकास का उन्नयन भी करती है? इसी प्रकार के और बहुत से प्रश्न उठ रहे हैं। इसीलिए आज अर्थशास्त्री एवं नीतिनिर्धारक GNP के मापकों के वर्तमान स्वरूप पर पुन: गहन विचार करने को बाध्य हो रहे हैं। अनेक अर्थशास्त्री अब देश की आर्थिक संवृद्धि और विकास के सूचक के रूप में GNP के प्रयोग को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने लगे हैं।

सकल राष्ट्रीय उत्पाद का मापन राष्ट्रीय आय लेखांकन के नियमों के अंतर्गत ही होता है। ये नियम विभिन्न उत्पादक गतिविधियों को GNP में समावेशन और अपवर्जन के लिए सुनिश्चित निर्देश भी दे सकते हैं। अत: एक आंकड़े के रूप में तो GNP को अर्थव्यवस्था के समग्र विकास का आधार मान लेना भ्रामक हो सकता है। अभी भी दूसरा प्रश्न बचा हुआ है: क्या GNP आर्थिक क्षेम का सटीक मापक है?

कभी प्रो. जे.आर. हिक्स ने लिखा था : "आय की गणना का उद्देश्य लोगों को यही बताना है कि अपने आपको दरिद्र बनाए बिना वे क्या कुछ उपभोग कर सकते हैं।"[7]

आज, विशेषकर विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में तो हमें आय के वितरण, पारिस्थितिकीय अवनति और जीवन की गुणवत्ता में ह्रास की गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इस प्रकार की समस्याओं ने न केवल व्यक्तियों के बीच सामाजिक-आर्थिक स्तर की खाई को बढ़ा दिया है बल्कि देशों के भी अनेक प्रकार के वर्ग बना दिए है- जैसे विकसित, विकासशील, कम विकसित और अत्यल्प विकसित।

विकास से जुड़े उपर्युक्त प्रश्नों पर विस्तार से चर्चा इस पुस्तक की विषय-वस्तु को एक अलग ही दिशा की ओर मोड़ देगी। अत: यहां हम इतना कहकर ही संतोष कर लेते हैं कि GNP वृद्धि को विकास का एकमात्र ध्येय मान लेना उचित नहीं होगा। यह जानना भी महत्त्वपूर्ण होता है कि क्या GNP की संवृद्धि के साथ-साथ आय का वितरण समतापूर्ण होता है? या क्या यह विकास संवहनीय है? और, क्या इससे जन सामान्य के जीवन की गुणवत्ता में सुधार होता है? विकास की प्रक्रिया को प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिकीय व्यवस्थाओं को जोखिम में डाले बिना संधृतिशील (Sustainable) समाज की रचना करनी चाहिए।

इसीलिए कहा जाता है कि किसी भी कीमत पर GNP वृद्धि के कारण आर्थिक-सामाजिक रूप से 'अस्वीकार्य' गरीबी और प्रदूषण की समस्याएं पैदा हो

[7] हिक्स जे.आर., वेल्यू एंड केपीटल, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पेज-172

सकती हैं। अत: विकास के किसी नए 'मापक' या नई कसौटी की आवश्यकता है। उसमें GNP को मानवीय कुशल क्षेम के मापन की क्षमता से परिपूर्ण बनाना होगा। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इस संदर्भ में हरित GNP का विचार प्रतिपादित किया है। यह हरित GNP वृद्धि की कसौटी प्राकृतिक संसाधनों के संधृतिशील विदोहन और विकास के हितलाभों के समतापूर्ण विभाजन पर बल देती है। सकल राष्ट्रीय उत्पाद से जुड़े इन मुद्दों पर और विचार विमर्श की आवश्यकता है- किंतु यहां बस इतना ही।

सार संक्षेप

- आय का चक्रीय प्रवाह ही समष्टि स्तरीय आर्थिक गतिविधियों के मापन का आधार है।
- उत्पादन विधि, आय विधि और व्यय विधि सकल राष्ट्रीय उत्पाद को मापने की तीन विधियां हैं।
- उत्पादन विधि में विभिन्न उत्पादक इकाईयों द्वारा मूल्य वृद्धि का योग करने के उद्देश्य से केवल वास्तविक वस्तुओं और सेवाओं का मान ही जोड़ा जाता है।
- आय विधि में सभी साधनों की आयों का योग किया जाता है। यह योगफल समस्त मूल्य वृद्धि के समान होता है। अत: राष्ट्रीय लेखों में उत्पादन और आय में समानता रहती है।
- सकल व्यय विधि में उपभोग, निवेश और वस्तुओं-सेवाओं की खरीदारी पर सरकारी व्यय को जोड़ा जाता है।
- स्थिर और प्रचलित मूल्यों के आधार पर आकलित आंकड़े हमें क्रमश: वास्तविक और मौद्रिक GNP की जानकारी प्रदान करते हैं। हम GNP अपस्फायक द्वारा सभी वस्तुओं और सेवाओं के औसत कीमत स्तर को माप सकते हैं।
- पूर्णत: वित्तीय लेन-देन, सरकारी व निजी हस्तांतरण, पुरानी चीजों की बिक्री, अवैध और गैर-बाजारी वस्तुएं आदि सकल राष्ट्रीय उत्पाद की गणना में अपवर्जित होती है (इन्हें सम्मिलित नहीं किया जाता)।

अभ्यास

भाग-1

1. परिभाषा करें
   (i) बाजार कीमतों पर GNP
   (ii) बाजार कीमतों पर NNP
   (iii) संसाधन लागत पर GNP
   (iv) संसाधन लागत पर NNP
2. मूल्य वृद्धि की अवधारणा की परिभाषा करें।
3. दिखाइए कि मूल्य वृद्धि का योग संसाधन आयों के योग के समान किस प्रकार हो जाता है।
4. अंतिम वस्तु और अंतर्वर्ती वस्तु में क्या भेद होता है?
5. मूल्य ह्रास क्या होता है?
6. सकल व्यय के घटक क्या होते हैं?
7. संसाधन आय क्या होती है?
8. दोहरी गणना का क्या अर्थ है? इससे क्यों बचना चाहिए?
9. हस्तांतरण आय क्या होती हैं?
10. गैर-बाजार गतिविधियों का अर्थ समझाइए।
11. हरित GNP किसे कहते हैं?
12. बाजार कीमत और स्थिर कीमत पर राष्ट्रीय आय में भेद करें।
13. परिभाषा करें : (क) मौद्रिक GNP (ख) वास्तविक GNP
14. GNP अपस्फायक क्या होता है?
15. विश्रामावकाश को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करने के कारण बताइए।

भाग - 2

16. राष्ट्रीय आय के आकलन की उत्पादन और आय विधियां समझाइए।
17. किसी उदाहरण की सहायता से मूल्य वृद्धि विधि समझाइए।
18. GNP के आकलन में किन कार्यों को अपवर्जित माना गया है? इसके कारण भी बताइए।
19. क्या GNP राष्ट्रीय क्षेम स्तर का मापन करता है?
20. संसाधन आय के घटकों की व्याख्या करें।
21. इन वाक्यांशों का अर्थ बताइए:
    (क) स्थिर व्यावसायिक निवेश
    (ख) भण्डार निवेश
    (ग) गृह निर्माण निवेश
    (घ) सार्वजनिक निवेश

भाग - 3

22. निम्न आंकड़ों के आधार पर फर्म A तथा फर्म B द्वारा की गई मूल्य वृद्धियों का आकलन करें:

	(लाख रुपये)
(i) फर्म A द्वारा शेष विश्व से खरीद	30
(ii) फर्म B की बिक्री	90
(iii) फर्म A द्वारा B से खरीद	50
(iv) फर्म A की बिक्री	110
(v) फर्म A द्वारा निर्यात	30
(vi) फर्म A का प्रारंभिक स्टॉक	35
(vii) फर्म A का अंतिम स्टॉक	20
(viii) फर्म B का आरंभिक स्टॉक	30
(ix) फर्म B का वास्तविक स्टॉक	20
(x) फर्म B द्वारा फर्म A से खरीद	50

23. निम्न आंकड़ों के आधार पर फर्म X और फर्म Y की मूल्य वृद्धि आकलित करें।

	(लाख रुपये)
(i) फर्म X की बिक्री	100
(ii) फर्म Y की बिक्री	500
(iii) परिवारों द्वारा Y से खरीदारी	300
(iv) फर्म Y द्वारा निर्यात	50
(v) फर्म X के भण्डार में परिवर्तन	20
(vi) फर्म Y के भण्डार में परिवर्तन	10
(vii) फर्म X का आयात	70
(viii) फर्म Z द्वारा फर्म Y को बिक्री	250
(ix) फर्म Y द्वारा फर्म X से खरीद	200

24. इन आंकड़ों का प्रयोग करें और (क) व्यय विधि, तथा (ख) आय विधि से शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद का आकलन करें-

	(लाख रुपये)
(i) निजी उपभोग व्यय	700
(ii) मजदूरी व वेतन	700
(iii) सामाजिक सुरक्षा हेतु रोजगारदाताओं का अंशदान	100
(iv) सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश	60

(v) सकल गृह निर्माण निवेश	60
(vi) सकल सार्वजनिक निवेश	40
(vii) भण्डार निवेश	20
(viii) लाभांश	100
(ix) सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीद	200
(x) लगान/भाड़ा	50
(xi) निर्यात	40
(xii) आयात	20
(xiii) ब्याज	40
(xiv) मिश्रित आय	100
(xv) विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(–)10
(xvi) मूल्य ह्रास	20
(xvii) अनुदान/सहाय्य	10
(xviii) अप्रत्यक्ष कर	20

25. निम्न जानकारी का प्रयोग कर (क) व्यय विधि (ख) आय विधि से संसाधन लागत पर सकल घरेलू उत्पाद (GDP_{FC}) का आकलन करें।

	(लाख रुपये)
(i) वैयक्तिक उपभोग व्यय	700
(ii) मजदूरी-वेतन	700
(iii) रोजगारदाताओं का सामाजिक सुरक्षा में योगदान	100
(iv) सकल व्यावसायिक स्थिर निवेश	60
(v) लाभ	100
(vi) सकल गृह-निर्माण निवेश	60
(vii) वस्तुओं-सेवाओं की सरकारी खरीदारी	200
(viii) सकल सरकारी निवेश	40
(ix) लगान	50
(x) भण्डार निवेश	20
(xi) निर्यात	40
(xii) ब्याज	50
(xiii) आयात	20

(xiv) विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(-)10
(xv) मिश्रित आय	100
(xvi) मूल्य ह्रास	20
(xvii) सहाय्य/अनुदान	10
(xviii) अप्रत्यक्ष कर	20

26. निम्न आंकड़ों से बाजार कीमतों पर सकल घरेलू उत्पाद का आकलन करें-

	(लाख रुपये)
(i) प्राथमिक क्षेत्र के उत्पादन का मूल्य	2000
(ii) द्वितीयक क्षेत्र को अंतर्वर्ती उपभोग	800
(iii) प्राथमिक क्षेत्र का अंतर्वर्ती उपभोग	1000
(iv) विदेशों से शुद्ध संसाधन आय	(-)30
(v) शुद्ध अप्रत्यक्ष कर	300
(vi) सेवा क्षेत्र के उत्पादन का मूल्य	1400
(vii) द्वितीयक क्षेत्र के उत्पादन का मूल्य	1800
(viii) सेवा क्षेत्र का अंतर्वर्ती उपभोग	600
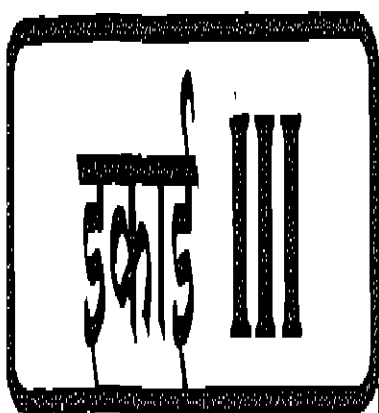
आय और रोज़गार का निर्धारण

अध्याय 4

समष्टिअर्थशास्त्र में समग्र मांग और समग्र आपूर्ति

विषय-प्रवेश

समष्टि अर्थशास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि समग्र मांग और समग्र आपूर्ति मिल कर ही वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन, समग्र रोज़गार स्तर और अर्थव्यवस्था के सामान्य कीमत स्तर का निर्धारण करते हैं। अत: आइए, हम समग्र मांग और समग्र आपूर्ति की संकल्पनाओं के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझ लें।

समग्र मांग

समग्र मांग अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के लिए सकल मांग ही होती है। इसे सामान्यत: सामान्य कीमत स्तर से संबंधित माना जाता है और इनके बीच विपरीत संबंध रहता है। दूसरे शब्दों में उच्च कीमत स्तर पर समग्र मांग निम्न होगी तथा निम्न कीमत स्तर पर समग्र मांग अधिक हो जाएगी।[1] हम यही विपरीत संबंध चित्र 4.1 में दिखा रहे हैं:

चित्र 4.1 में समग्र मांग वक्र को AD द्वारा दिखाया गया है। Y-अक्ष पर कीमत स्तर और X-अक्ष पर वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन रखा गया है।

समग्र आपूर्ति

समग्र आपूर्ति अर्थव्यवस्था में सभी वस्तुओं और सेवाओं की सकल आपूर्ति ही होती है। इस समग्र आपूर्ति का समग्र मांग वक्र की भांति कीमत स्तर से कोई स्पष्ट संबंध नहीं होता। वस्तुत: समष्टिअर्थशास्त्र में मान्यताओं के भेद के अनुसार दो पृथक-पृथक समग्र आपूर्ति वक्रों की रचना की जाती है। ये समग्र आपूर्ति की दो अलग-अलग अवधारणाओं को अभिव्यक्त करते हैं। ये हैं: (क) प्रतिष्ठित समग्र आपूर्ति अवधारणा, तथा (ख) केंजीय समग्र आपूर्ति अवधारणा। हम इन दोनों अवधारणाओं पर पृथक-पृथक ही विचार करेंगे।

प्रतिष्ठित समग्र आपूर्ति अवधारणा

प्रतिष्ठित[2] अथवा पुरातन विचाराधारा के अनुसार समग्र आपूर्ति कीमतों के स्तर से पूर्णत: लोचविहीन रहती है। इसका अर्थ है कि कीमत परिवर्तन का आपूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं होगा। इस प्रकार की प्रतिष्ठित समग्र मांग वक्र को हम चित्र 4.2 में दिखा रहे हैं-

---

[1] समग्र मांग वक्र के इस प्रकार दाहिनी ओर ढलवां होने की व्याख्या हमारे वर्तमान पाद्‌यक्रम की सीमा से परे है। इस विषय में आप उच्चतर स्तर पर अर्थशास्त्र का अध्ययन करेंगे तब जान पाएंगे।

[2] अर्थशास्त्र की प्रतिष्ठित अथवा पुरातन चिंतन धारा में 18वीं शताब्दी के एड्म स्मिथ से लेकर 20वीं शताब्दी के ए.सी.पीगू तक के सभी अर्थशास्त्री सम्मिलित है। जॉन मेनार्ड केंज से पूर्व धारा में सभी का विचार था कि अर्थव्यवस्था सामान्यत: पूर्ण रोज़गार स्तर पद पर संतुलन में ही रहती है। उनका यह विचार जे.बी. से के बाज़ार विषयक नियम पर टिका था। उस नियम में समग्र मांग किसी अभाव की संभावना स्वीकार्य नहीं होती थी।
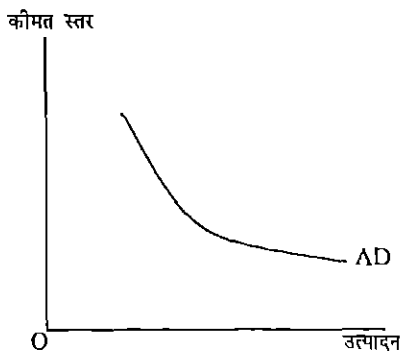
चित्र.4.1 : समग्र मांग वक्र
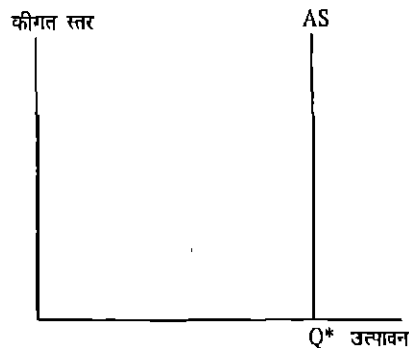
चित्र.4.2: प्रतिष्ठित समग्र आपूर्ति वक्र

यहां भी Y-अक्ष पर कीमत स्तर तथा X-अक्ष पर उत्पादन दर्शाया गया है। उर्ध्व रेखीय वक्र AS हमारा समग्र आपूर्ति वक्र है। बिंदु Q* द्वारा हम पूर्ण रोजगार की दशा में वस्तुओं और सेवाओं का सकल उत्पादन दिखा रहे हैं। अत: समग्र आपूर्ति वक्र उत्पादन के पूर्ण रोज़गार स्तर से उठती हुई ऊर्ध्व सरल रेखा होती है। इसका अर्थ होगा कि कीमत परिवर्तनों का आपूर्ति के स्तर पर कोई प्रभाव नहीं होता।

वस्तुओं और सेवाओं का पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर वह अधिकतम उत्पादन होता है जिसे अपने सभी संसाधनों का पूर्ण प्रयोग कर उत्पादित कर पाने की अर्थव्यवस्था में क्षमता होती है। हाँ पूर्ण रोज़गार की दशा में भी एक ऐसी संभावना रहती है कि कभी-कभी कुछ अस्थायी बेरोज़गारी उत्पन्न हो जाए। इसे "प्रतिरोधात्मक बेरोज़गारी कहते हैं"[3]

प्रतिष्ठित अर्थ चिंतन की यह बहुत ही पुरातन मान्यता रही है कि अर्थव्यवस्था सदैव अपने अधिकतम अथवा पूर्ण रोज़गार स्तर पर कार्य करेगी और समग्र आपूर्ति वक्र का उद्‌गम बिंदु यही होगा। समग्र आपूर्ति की इस संकल्पना का सैद्धांतिक आधार दो मान्यताओं पर टिका था। ये थी: (क) 'से' का बाज़ार का नियम, तथा (ख) मज़दूरी-कीमत नम्यता (लचीलापन)।

'से' का बाज़ार का नियम

अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी अर्थशास्त्री जीन बप्तीस्ते से का बाज़ार विषयक नियम प्रतिष्ठित अर्थ चिंतन का एक प्रमुख आधार स्तम्भ था। से के नियम के अनुसार, "आपूर्ति अपनी मांग का स्वयं ही सृजन कर लेती है," अर्थात् यदि उत्पादन होगा, तो उनके लिए बाज़ार भी पैदा हो ही जाएगा। अत: उत्पादन एवं विनिमय के लिए बाज़ार तंत्र के सहारे चलने वाली अर्थव्यवस्था में कभी 'अति उत्पादन' या उत्पादन की 'अनावश्यक भरमार हो ही नहीं पाएगी।[4]

इसी प्रकार कभी मांग के अभाव की स्थिति भी पैदा नहीं हो पाएगी।

'से' का मानना था कि काम करना कष्टप्रद होता है इसीलिए कोई भी व्यक्ति काम के ध्येय से काम

[3] यह प्रतिरोधात्मक बेरोज़गारी उस दशा को इंगित करती है जब कुछ लोग किसी कारणवश एक काम को छोड़कर दूसरे की तलाश कर रहे हों। नया रोजगार मिलने में कुछ समय लग ही जाता है-- इसीलिए किसी भी समय विशेष पर कुछ लोग अस्थायी रूप से रोजगारहीन होते हैं। इसी को प्रतिरोधात्मक बेरोज़गारी कहते हैं।

[4] देखें गार्डनर ऐकले, *मैक्रोइक्नॉमिक्स*, कॉल्लीयर-मैकमिलन, 1978

नहीं करता। सब लोग केवल इसलिए काम करने को तैयार हो जाते है कि काम के बदले संतुष्टि या उपयोगितादायी वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त हो जाएंगी।

श्रम विभाजन और विनिमय पर आधारित अर्थव्यवस्था में व्यक्ति उन सभी वस्तुओं-सेवाओं का स्वयं उत्पादन नहीं करते जिनका उपभोग उन्हें अभीष्ट होता है। वे तो केवल उन्हीं का उत्पादन करने पर ध्यान लगाते हैं जिसमें वे सापेक्षतया अधिक कुशल होते हैं। इस प्रकार अपनी आवश्यकता से अधिक उन वस्तुओं के उत्पादन का अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त उप्पादन से विनिमय कर लेते हैं।

ऐसी उत्पादन व्यवस्था में तो उत्पादन करना ही अन्य वस्तुओं की मांग के समकक्ष हो जाता है। अतिरिक्त उपलब्ध वस्तु ही अन्य वस्तुओं की मांग के समान होती है। (यहां अतिरिक्त वस्तु से तात्पर्य निजी उपभोग से अधिक अपने उत्पादन से है)। यही बात सभी व्यक्तियों पर लागू रहती है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का उत्पादन उसकी अन्य लोगों के उत्पादन के लिए मांग के समतुल्य होता है। सारे समाज के लिए हम सहज ही इनका योगफल कर यह जान पाते हैं कि यह समग्र मांग समग्र पूर्ति के समान होगी। से के नियम का निहित अर्थ है कि उत्पादन में वृद्धि होने के कारण उसके समान परिमाण में ही आय और व्यय में भी वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार आय और उत्पादन सदैव ही पूर्ण रोज़गार स्तर पर रहेंगे। उत्पादन उस बिंदु पर संतुलन में होगा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति के लिए थोड़े से

क्लिप 4.1

जीन बप्तिस्ति से : जीवन वृत्त

नेपोलियन बोनापार्ट के शासनकाल में जीन बप्तिस्त से एक राजनयज्ञ, व्यापारी और अर्थशास्त्री थे। उन्हें फ्रांसीसी प्रतिष्ठित अर्थचिंतन धारा का प्रवर्तक माना जाता है। इसी धारा के प्रसिद्ध अनुयायियों में फ्रेड्रिक बेसिएत भी रहे हैं।

वर्ष 1803 में से ने *ट्रीटाइज ऑन पोलिटिकल इकोनोमी* नामक ग्रंथ लिखा। यह विश्व भर में प्रसिद्ध हो गया और इसके पाँच संस्करण मुद्रित हुए। उस समय के अमरीकी महाविद्यालयों तक में उसे पाठ्यपुस्तक के रूप में प्रयोग किया जाने लगा था।

राज अर्थशास्त्र पर उन्होंने 1816 में आख्यान देने आरंभ किए और अगले ही वर्ष *केटेशिज्म ऑफ पोलिटिकल इकोनोमी* का प्रकाशन किया। उन्हें 1819 में कंजर्वेटॉयर डेस आर्ट्स एट मेटीअर्स में औद्योगिक अर्थशास्त्र के आचार्य का पद सौंपा गया। 1828 में उन्होंने अपना "ए कंपलीट कोर्स इन प्रैक्टीकल पोलीटीकल इकोनोमी" प्रकाशित किया। वर्ष 1831 में 'उन्हें' कॉलेज डी फ्रांस में राज अर्थशास्त्र के आचार्य पद पर नियुक्त किया गया- इसी पद पर वे 1832 में देहावसान तक कार्यरत रहे।

आर्थिक सिद्धांतों में उद्यम के विचार को प्रतिष्ठा दिलाने वालों में 'से' सम्मिलित रहे हैं (यही उत्पादन के मूल कारकों के त्रिपक्षीय विभाजन से भी जुड़े रहे हैं (श्रम, भूमि तथा पूँजी) । 'बाज़ार का नियम' इनका सर्वोत्कृष्ट योगदान माना जाता है। इस नियम को सबसे अधिक प्रसिद्धि तो उस समय मिली जब कैंज ने सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों पर 'से' के नियम से भ्रमित होकर उसे अपने समष्टि अर्थचिंतन का आधार बना लेने का आरोप लगाया।

और विश्रामावकाश से उत्पन्न संतुष्टि उन वस्तुओं और सेवाओं के 'त्याग' जिनका उत्पादन हो सकता था, से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इस बिन्दु पर यदि कोई बेरोज़गार हुआ तो वह स्वैच्छिक रूप से ही बेरोजगार होगा (यानि कोई व्यक्ति प्रचलित मजदूरी दर पर काम नहीं करना चाहता) मज़बूरीवश नहीं।

इस विचार के अनुसार मजदूरी और कीमतों की पूर्ण नम्यता ही आय और उत्पादन को पूर्ण रोज़गार स्तर पर बनाए रखना सुनिश्चित करती है। दूसरे शब्दों में बाज़ार स्वमेव ही पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर के अनुरूप ढल जाता है। हम अगले ही अनुच्छेद में मजदूरी कीमत नम्यता का अभिप्राय: और स्पष्ट करेंगे।

मज़दूरी-कीमत नम्यता

मज़दूरी-कीमत नम्यता का अर्थ है कि वास्तविक मज़दूरी दर[5] और कीमतों में पूरा लचीलापन है- वे स्वतंत्रतापर्वूक और तेजी के साथ बढ़ या घट सकती है। इसी नम्यता के प्रभावस्वरूप श्रम तथा वस्तुओं-सेवाओं के बाज़ार सदैव संतुलन में रहते है अर्थात् सभी बाज़ारों में मांग सदैव आपूर्ति के समान रहती है।

मान लो कि किसी वस्तु की अतिरिक्त मांग (या आपूर्ति) के कारण श्रम (या किसी वस्तु अथवा सेवा) बाज़ार में असंतुलन आ गया है। ऐसे समय में मज़दूरी-कीमत नम्यता के कारण मज़दूरी दर (या कीमत) में वृद्धि (कमी) होकर अतिरिक्त मांग (आपूर्ति) का समापन हो जाएगा। पुनः बाज़ार में मांग और आपूर्ति में समानता (अर्थात् संतुलन) स्थापित हो जाएगी।

मज़दूरी दर की नम्यता श्रम बाज़ार को संतुलन में बनाए रखती है- अर्थात् श्रम की आपूर्ति उसकी मांग के समान रहती है।

इसका अर्थ होगा कि प्रचलित मज़दूरी दर पर कार्य करने के इच्छुक सभी व्यक्तियों को काम मिल जाएगा। यही पूर्ण रोज़गार है। कीमत नम्यता का प्रभाव होता है कि प्रत्येक वस्तु और सेवा के बाज़ार में आपूर्ति और मांग में समानता (संतुलन) बनी रहती है। कुल मिलाकर इनका अर्थ होता है कि सभी वस्तुओं और सेवाओं की समग्र आपूर्ति उनकी समग्र मांग के समान रहती है।

इस प्रकार 'से' का बाज़ार का नियम और मज़दूरी-कीमत नम्यता मिलकर ऐसी स्वचालित बाज़ार संतुलन प्रक्रिया की रचना कर देते हैं जिसमें अर्थव्यवस्था सदैव ही पूर्ण रोज़गार स्तर पर उत्पादन करती रहती है। अतः प्रतिष्ठित समग्र आपूर्ति वक्र उत्पादन के पूर्ण रोज़गार स्तर पर ऊर्ध्व रेखा हो जाती है। यह कीमतों के परिवर्तन के प्रति पूरी तरह से संवेदनहीन होती है (लोचहीन होती है)। दूसरे शब्दों, में कीमत स्तर चाहे कुछ भी हो, उत्पादन तो पूर्ण रोज़गार स्तर पर ही रहता है (देखें चित्र 4.2)।

समग्र आपूर्ति की केंजीय संकल्पना

केंजीय विचार तंत्र में आपूर्ति को कीमतों के प्रति पूर्णतः लोचशील माना गया है। इसका अर्थ है कि सभी फर्में प्रचलित कीमतों पर वस्तु के किसी भी परिमाण का उत्पादन करने को तैयार रहती हैं।

केंज के ये विचार 1930 की व्यापक महामंदी के संदर्भ में विकसित हुए थे। उस समय विश्व के औद्योगिक देशों में उत्पादन, कीमतों और रोज़गार में निरंतर कमी का दौर चल रहा था। (देखिए परिशिष्ट 4.1)

केंज ने उस समय यही समझा कि कीमत के प्रति समग्र आपूर्ति पूर्णतः लोचशील है, उत्पादक नियत कीमत स्तर पर किसी भी मात्रा में वस्तुओं और

---

[5] वास्तविक मज़दूरी से तात्पर्य मज़दूरों की आमदनी की वस्तुएं आदि खरीद पाने की क्षमता से है। इसे मौद्रिक मज़दूरी तथा कीमत स्तर के अनुपात द्वारा मापा जाता है। कीमत स्तर और कीमत सूचक का अर्थ शब्दावली में देखें। प्रतिष्ठित अर्थ चिंतन में वास्तविक मज़दूरी दर श्रम की सीमांत उत्पादिता के समान ही होती है।

सेवाओं की आपूर्ति करने को तत्पर हैं। इस पूर्णतः लोचशील आपूर्ति वक्र के सैद्धांतिक आधार की रचना इन मान्यताओं द्वारा की गई थीं: (क) *मज़दूरी-कीमत अनम्यता*, तथा (ख) *श्रम की स्थिर सीमांत उत्पादिता* ये मान्यताएं तो प्रतिष्ठित विचारों के एकदम विपरीत थीं।

मजदूरी-कीमत अनम्यता का सीधा सा अर्थ होगा कि मौद्रिक मज़दूरी दर तथा कीमतों में उतार-चढ़ाव की 'स्वतंत्रता' नहीं होती। श्रम की स्थिर सीमांत उत्पादिता का अर्थ होगा कि श्रम के प्रयोग में प्रत्येक इकाई वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में हुई वृद्धि एक समान रहती है।

वास्तव में अनम्य मज़दूरी दर तथा सीमांत उत्पादन की यह स्थिरता ही कीमतों की अनम्यता के लिए उत्तरदायी होती है। इसका कारण यही है कि इन दो मान्यताओं के कारण प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादित इकाई की उत्पादन लागत एक समान हो जाती है। यह लागत उस इकाई के उत्पादन में प्रयुक्त अतिरिक्त श्रम इकाईयों तथा मज़दूरी दर का गुणनफल होती है। श्रम की उत्पादिता और मज़दूरी दर की स्थिरता का परिणाम होगा अतिरिक्त उत्पादन की लागत की स्थिरता। उत्पादन कार्य स्थिर लागत पर होता है। इसीलिए समग्र आपूर्ति वक्र कीमतों के प्रति पूर्णतः लोचशील रहता है- अर्थात् कीमतों में उतार-चढ़ाव के बिना ही उत्पादन पूर्ण रोज़गार स्तर तक बढ़ाया जा सकता है।

एक बार पूर्ण रोज़गार स्तर पर पहुँचने के बाद उत्पादन में और वृद्धि की कोई संभावना नहीं बचती क्योंकि इस स्तर पर तो सभी संसाधनों का पहले ही पूरा प्रयोग हो रहा है। यहां पहुँच कर (पूर्ण रोज़गार उत्पादन बिंदु पर) समग्र आपूर्ति वक्र कीमत के प्रति पूर्णतः लोचहीन हो जाती है। इस प्रकार के केंजीय आपूर्ति वक्र को हम चित्र 4.3 में दर्शा रहे हैं।
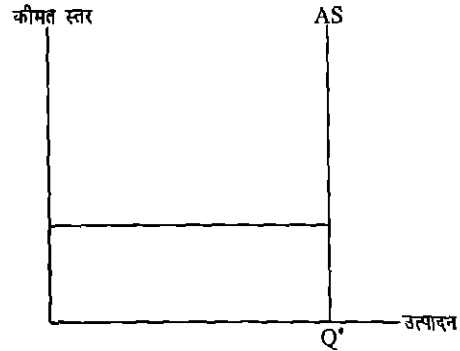
चित्र.4.3: केंजीय समग्र आपूर्ति वक्र

यहां भी पहले की भांति Y-अक्ष पर कीमत स्तर तथा X-अक्ष पर उत्पादन दर्शाया गया है। Q* पूर्ण रोज़गार की अवस्था से जुड़ा उत्पादन है। *केंजीय समग्र आपूर्ति वक्र पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर तक तो कीमतों के प्रति पूर्णतः लोचशील रहती है-* पर *पूर्ण रोज़गार स्तर पर पहुँचते ही पूर्णत लोचहीन हो जाती है। इसका कारण यही है कि सभी संसाधनों का भरपूर प्रयोग* पहले ही हो रहा है, अतः इस स्तर से आगे उत्पादन वृद्धि संभव ही नहीं होती।

मज़दूरी की इस अनम्यता का ही एक परिणाम यह होता है कि *पूर्णरोज़गार की प्राप्ति में बाधाएं* उत्पन्न हो जाती हैं। यदि मज़दूरी दर किसी ऐसे स्तर पर जम जाए जहां श्रम की आपूर्ति उसकी मांग से अधिक हो तो श्रम आपूर्ति के आधिक्य के समान अनैच्छिक बेरोज़गारी उत्पन्न हो जाएगी। ध्यान रहे कि *अनैच्छिक* बेरोज़गारी उस अवस्था का नाम है जिसमें प्रचलित मज़दूरी पर काम करने को तैयार लोगों को काम नहीं मिल पाता। मज़दूरी दर की अनम्यता इसे कम होकर श्रम-आपूर्ति के आधिक्य को समाप्त नहीं करने देती और इसी से पूर्ण रोज़गार स्तर की प्राप्ति में बाधा आती है। यदि मज़दूरी की अनम्यता के कारण पूर्ण रोज़गार संभव नहीं हो पाता तो अर्थव्यवस्था अपने पूर्ण रोज़गार से जुड़े उत्पादन स्तर की प्राप्ति में भी सफल नहीं हो पाएगी।

क्लिप 4.2

जॉन मेनार्ड केंज : जीवन वृत्त

जॉन मेनार्ड केंज (1883–1946) ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन नेविल केंज (जो उस समय केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के कुल सचिव भी थे) के ज्येष्ठ पुत्र थे। इन्होंने केम्ब्रिज से गणित में विशेष योग्यता के साथ स्नातक उपाधि प्राप्त करने के बाद अपना अध्यव्यावसायिक जीवन प्रारंभ किया, जिसमें ये अर्थशास्त्री, सरकार के सलाहाकार, "इक्नोमिक जर्नल" के संपादक तथा विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र के आचार्य आदि पदों पर कार्य करते रहे।

दो वर्षों, 1906–08 तक ये ब्रिटिश सरकार के भारत विभाग में कार्यरत् रहे तो 1909–15 तक केम्ब्रिज के किंग्ज कॉलेज में अर्थशास्त्र पढ़ाते रहे। उसी अवधि में इन्होंने "इन्डियन करेंसी एंड फाइनेंस (1913)" लिखी वर्ष 1912 में ही वे 'इकनोमिक जर्नल' के संपादक हो गए थे और 1945 तक इस पद पर बने रहे। 1915–1919 तक ये ब्रिटिश राजकोष से जुड़े रहे और 1919 में इन्होंने अपनी रचना "इकनोमिक कॉसीक्वेंसज ऑफ पीस" प्रकाशित की। इस रचना में इनका आग्रह रहा कि जर्मनी पर युद्ध की समाप्ति के बाद लगाया गया हर्जाना अनावश्यक रूप से अधिक था। इनकी पुस्तक *ए ट्रीटाइज ऑन मनी* 1930 प्रकाशित हुई।

पर इनकी सबसे क्रांतिकारी रचना *द जनरल थ्यौरी ऑफ एंपलाएमेंट, इन्टरेस्ट एंड मनी* तो 1936 में प्रकाशित हुई। 1944 में नई अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था के गठन के लिए ब्रेटेन-वुड्स में हुई गोष्ठियों में केंज एक महत्त्वपूर्ण विशेषज्ञ भागीदार रहे। देश के प्रति इनकी सेवाओं का सम्मान करते हुए ब्रिटिश सरकार ने इन्हें टिल्टन के प्रथम सामंत की उपाधि देकर इन्हें लॉर्ड केंज ऑफ टिल्टन बना दिया। इनका देहावसान 21 अप्रैल 1946 को हुआ।

अब हम समग्र मांग और समग्र आपूर्ति विषयक अवधारणाओं से परिचित हो चुके हैं। आइए इनका प्रयोग कर समष्टि अर्थशास्त्र के 'संतुलन' के विचार पर चर्चा करें।

संतुलन

समग्र मांग और समग्र आपूर्ति में संतुलन उस समय होता है जब किसी विशेष कीमत स्तर पर समग्र मांग समग्र आपूर्ति के समान हो जाए। संतुलन की दशा में सभी वस्तुओं और सेवाओं का सकल उत्पादन उनकी सकल मांग के समान होता है। वह विशेष कीमत स्तर ही संतुलन कीमत स्तर कहलाता है। संतुलन स्तर की समग्र आपूर्ति से जुड़े रोज़गार स्तर को *संतुलन रोज़गार* कहा जाता है।

ये संतुलन दो प्रकार का हो सकता है– *पूर्ण रोज़गार संतुलन तथा अपूर्ण रोज़गार संतुलन।*

पूर्ण रोज़गार संतुलन

यह अर्थव्यवस्था के संतुलन की वह अवस्था होती है जहां उसके सभी संसाधनों का पूरा प्रयोग हो रहा हो। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि अर्थव्यवस्था सदैव ही पूर्ण रोज़गार संतुलन में रहेगी। वे यह तो स्वीकार करते थे कि कभी-कभी अर्थव्यवस्था इस पूर्ण रोजगार स्तर से परे भी हट सकती है– किंतु उनका आग्रह था कि यह विचलन अत्यल्पकालिक और अस्थायी होगा। समग्र मांग और समग्र आपूर्ति की शक्तियों की बाज़ार प्रक्रिया शीघ्र ही (वस्तुतः तत्काल

ही) अर्थव्यवस्था को पुनः संतुलित कर देगी। पूर्ण रोजगार संतुलन के इन विश्वास का आधार दो मान्यताओं पर टिका था: (क) 'से' का बाज़ार का नियम, और (ख) मजदूरी-कीमत नम्यता।
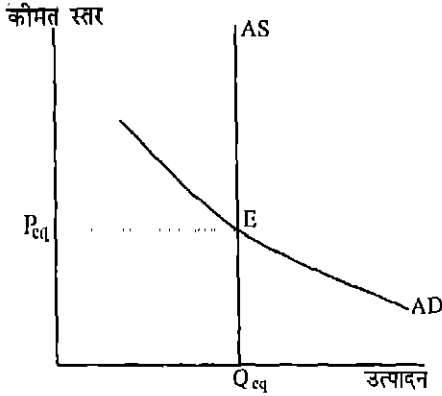
चित्र 4.4: पूर्ण रोजगार संतुलन

हम चित्र 4.4 में पूर्ण रोजगार संतुलन दर्शा रहे हैं। Y-अक्ष पर कीमत तथा X-अक्ष पर उत्पादन दर्शाया गया है। AD समग्र मांग है और AS समग्र आपूर्ति। बिंदु E पर पूर्ण रोजगार संतुलन होता है- यहीं पर समग्र मांग और समग्र आपूर्ति वक्रों का प्रतिच्छेदन होता है। इसी बिंदु E से जुड़ा कीमत स्तर P_{eq} तथा उत्पादन स्तर Q_{eq} है। प्रतिष्ठित मान्यता के अनुसार समग्र आपूर्ति सदैव ही पूर्ण रोज़गार उत्पादन के समान होती है। इसी कारण से इस Q_{eq} को पूर्ण रोज़गार उत्पादन माना जा सकता है। यही संतुलन पूर्ण रोज़गार संतुलन है। समग्र मांग वक्र की भूमिका वास्तव में संतुलन कीमत के निर्धारण तक ही सीमित रह जाती है।

अपूर्ण रोज़गार संतुलन

संतुलन की इस अवस्था में सभी संसाधनों का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता- अर्थात् कुछ साधनों के रोजगार में अपूर्णता रहती है। इस अपूर्ण रोजगार संतुलन की संकल्पना की व्याख्या केंजीय विश्लेषण विधि से की गई है। 1930 की व्यापक महामंदी के परिप्रेक्ष्य में केंजीय विधि का विकास हुआ था। इसके अनुसार जब कोई अर्थव्यवस्था मंदी से ग्रस्त हो जाए तो उसमें निश्चित रूप से आर्थिक गतिविधियों के स्तर में गिरावट आ जाती है। इसी कारण सक्रिय या प्रभावी मांग के अभाव के कारण संसाधनों की प्रयुक्ति में कमी आ जाती है। अपूर्ण रोजगार संतुलन की दशा के लिए इस चिंतन धारा में समग्र मांग के अभाव को ही उत्तरदायी माना जाता है।

केंज ने आपूर्ति को कीमत स्तर के प्रति पूरी तरह संवेदनशील माना था। उनका मत था कि निश्चित कीमत पर उत्पादक तो वस्तुओं ओर सेवाओं के किसी भी परिमाण की आपूर्ति करने को तत्पर थे। हमने पहले भी समझाया है कि इस पूर्णतः लोचशील समग्र आपूर्ति वक्र का सैद्धांतिक आधार इन दो मान्यताओं द्वारा निर्मित हुआ है: (क) मजदूरी-कीमत अनम्यता, तथा (ख) श्रम की स्थिर सीमांत उत्पादिता।

जब समग्र आपूर्ति वक्र पूर्णतः लोचशील हो जाता है तो फिर उत्पादन और रोजगार के संतुलन स्तरों का निर्धारण पूरी तरह से समग्र मांग पर ही निर्भर रह जाता है। यदि समग्र मांग में अभाव हो- अर्थात यदि समग्र मांग उत्पादन के पूर्ण रोजगार स्तर से कम रह जाए- तो फिर संतुलन भी अपूर्ण रोजगार स्तर पर ही हो जाता है।

हम इस अपूर्ण रोजगार संतुलन को चित्र 4.5 में दर्शा रहे हैं-

चित्र 4.5: अपूर्ण रोजगार संतुलन
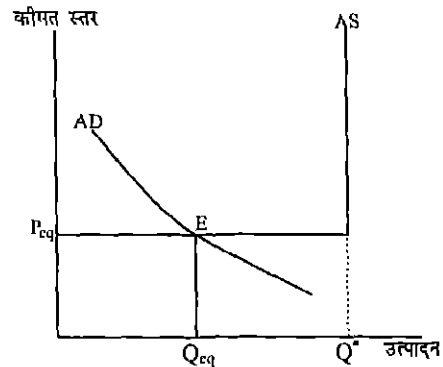
AD द्वारा समग्र मांग तथा AS द्वारा समग्र आपूर्ति दर्शाई गई है। संतुलन कीमत स्तर P_{eq} तथा उत्पादन स्तर Q_{eq} है। यहां पूर्ण रोजगार की दशा में Q* उत्पादन संभव हो सकता है। आपूर्ति वक्र की पूर्ण लोचशीलता के कारण ही उत्पादन और रोजगार का संतुलन केवल समग्र मांग के स्तर पर निर्भर रह जाता है। संतुलन कीमत तो उत्पादन अक्ष और आपूर्ति वक्र के बीच के ऊर्ध्व अंतर द्वारा ही तय हो जाता है।

केंज की विश्लेषण विधि में अर्थव्यवस्था को अपूर्ण से पूर्ण रोजगार संतुलन की ओर ले जाने का एक मात्र माध्यम समग्र मांग का संवर्धन होता है। इस संवर्धन के लिए भी (उनका आग्रह था कि) सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी को बढ़ाना ही सबसे सहज और व्यवहारिक उपाय होगा।

प्रभावी समग्र मांग में वृद्धि स्वमेव ही कीमत स्तर को प्रभावित किए बिना समग्र आपूर्ति में अपने समतुल्य वृद्धि का मार्ग प्रशस्त कर देगी। इस प्रकार केवल समग्र मांग बढ़ाने से ही अर्थव्यवस्था अपूर्ण से पूर्ण रोज़गार संतुलन की ओर अग्रसर हो जाएगी। समग्र आपूर्ति की अपेक्षा सरकार द्वारा समग्र मांग में परिवर्तन का यह प्रयास ही *मांग प्रबंधन नीति* कहलाता है।

अपूर्ण रोज़गार स्तर का उपचार कर अर्थव्यवस्था को पूर्णरोज़गार स्तर तक पहुँचाने का केंजीय सूत्र है समग्र मांग की वृद्धि। अगले दो अध्यायों में हम समग्र मांग के विभिन्न घटकों पर विचार कर केंजीय विधि के अनुसार उत्पादन और रोजगार के स्तर के निर्धारण को समझने का प्रयास करेंगे।

सार संक्षेप

- समग्र मांग अर्थव्यवस्था में सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए समस्त मांग है।
- समग्र आपूर्ति अर्थव्यस्था में सभी वस्तुओं और सेवाओं की समस्त आपूर्ति होती है।
- प्रतिष्ठित अर्थचिंतन का समग्र आपूर्ति वक्र कीमतों के प्रति पूर्णतः लोचहीन होता है। साथ ही वहां समग्र आपूर्ति भी सदैव पूर्ण रोज़गार स्तरीय उत्पादन के समान होती है।
- प्रतिष्ठित समग्र आपूर्ति की आधारभूत मान्यताएं है: (क) 'से' का बाज़ार का नियम, तथा (ख) मज़दूरी-कीमत नम्यता।
- केंज का समग्र आपूर्ति वक्र कीमतों के प्रति पूर्णतः लोचशील होता है। किंतु यह लोचशीलता पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर तक ही बनी रह पाती है। उस स्तर पर पहुँच कर यह आपूर्ति वक्र भी पूर्णतः लोचहीन हो जाता है। इसका अर्थ है कि फर्में प्रचलित कीमत स्तर पर पूर्ण रोजगार उत्पादन तक की किसी भी मात्रा की आपूर्ति करने को तैयार होती हैं। केंजीय समग्र आपूर्ति के सैद्धांतिक आधार की रचना: (क) श्रम की स्थिर सीमांत उत्पादिता, तथा (ख) मजदूरी-कीमत अनम्यता की मान्यताओं पर टिकी है।
- समग्र आपूर्ति और समग्र मांग के बीच संतुलन तब होता है जब किसी कीमत स्तर विशेष पर समग्र मांग समग्र आपूर्ति के समान हो जाए।
- संतुलन दो प्रकार का हो सकता है- पूर्ण रोजगार संतुलन तथा अपूर्ण रोज़गार संतुलन।
- पूर्ण रोज़गार संतुलन वह अवस्था है जिसमें सभी संसाधन अपनी चरम सीमा तक प्रयुक्त हो रहे हों।
- अपूर्ण रोजगार संतुलन की दशा में सभी संसाधनों का भरपूर प्रयोग संभव नहीं हो पाता- अर्थात कुछ न कुछ संसाधनों के प्रयोग में कमी रह जाती है।

अभ्यास

1. समग्र मांग क्या होती है?
2. समग्र आपूर्ति क्या होती हैं?
3. समग्र आपूर्ति की प्रतिष्ठित संकल्पना केंजीय संकल्पना से किस प्रकार भिन्न है?
4. संतुलन का क्या अर्थ होता है?
5. पूर्ण रोजगार संतुलन और अपूर्ण रोजगार संतुलन में भेद करें।
6. इनकी व्याख्या करें: (क) ऐच्छिक बेरोजगारी (ख) अनैच्छिक बेरोजगारी

परिशिष्ट 4.1 : महामंदी

1930 के दशक के आरंभिक वर्षों में विश्वव्यापी मंदी छाई हुई थी। आर्थिक गतिविधियों का ये अवरोध अप्रत्याशित रूप से गहन और दीर्घकालिक रहा। पिछले ही दशक (1920 के दशक) में सयुक्त राज्य अमरीका में शेयर बाज़ार में भारी उछाल रहा था। व्यापारियों और अर्थशास्त्रियों को विश्वास था कि नवगठित फेड्रल रिजर्व अर्थव्यवस्था में स्थिर बनाए रखेगा और प्रोद्योगिकीय प्रगति की रफ़तार जीवन स्तर में निरंतर सुधार व बाज़ारों का निरंतर प्रसार सुनिश्चित बनाए रहेगी। फैड्रल रिजर्व द्वारा 1928 व 1929 में शेयर बाज़ार में सट्टेबाजी को हतोत्साहित करने के लिए ब्याज दरों को बढ़ाने के निर्णय लिए थे। उन्हीं को मंदी के दौर को प्रारंभ करने के लिए उत्तरदायी माना जाता है।

चित्र परि. 4.1 में Y अक्ष पर G – 7 देशों के उत्पादन का सूचक दर्शाया गया है। यह सूचक 1929 को आधार (= 100) मान कर आकलित किया गया है।

यही कहा जा सकता है कि माल बिक न पाने से हत्प्रभ फर्मों ने आगे उत्पादक (दीर्घोपयोगी) पदार्थों की खरीदारी कम कर दी। इसके प्रभावस्वरूप इन दीर्घोपयोगी पदार्थ निर्माताओं को उत्पादन घटाना पड़ा, कुल मिलाकर बेरोज़गार हो गए उपभोक्ता ही नहीं रोज़गार की संभावना के प्रति आशंकित अन्य कामगारों ने भी दीर्घोपयोगी उपभोक्ता वस्तुओं की खरीदारी पर अंकुश लगाना बेहतर समझा। इस प्रकार इनकी उत्पादक फर्मों को भी मांग में निरंतर कमी का सामना करना पड़ गया।
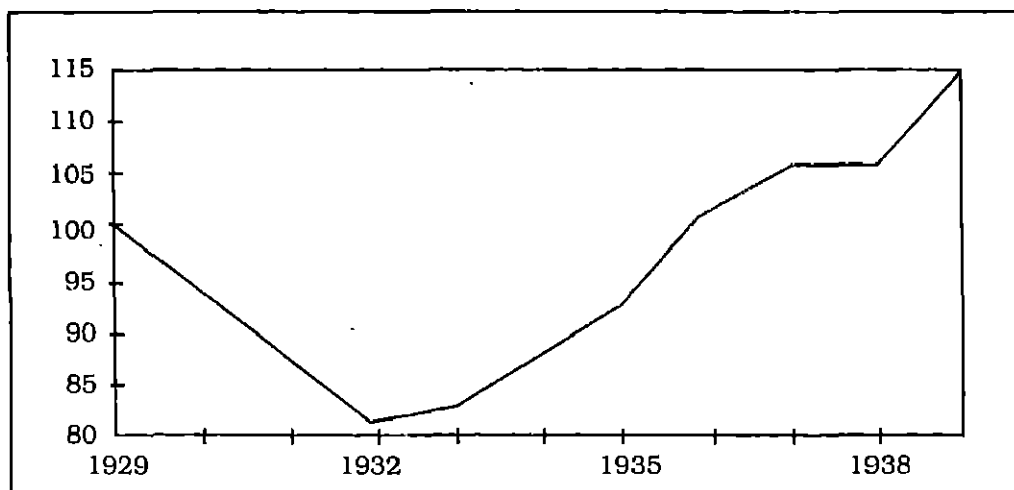
चित्र परि. 4.1 : महामंदी के दौरान G – 7 देशों का कुल उत्पादन

इस मंदी के दौरान कीमतों की कमी (अवस्फीति) ने उत्पादन संकुचन और (रोजगार में कमी के माध्यम से) पुन: कीमतों में गिरावट का चक्र प्रारंभ कर दिया। कीमतों में 10 प्रतिशत वार्षिक कटौती ने निवेशकों को सुझाया कि अब निवेश से हानि ही होगी। यदि अगले वर्ष निवेश किया तो उनकी धनराशि से 10 प्रतिशत अधिक सामग्री खरीदी जा सकेगी। बैंकों में तरलता अभाव और विश्व भर में मौद्रिक व्यवस्थाओं का बिखरना भी सभी की विश्वासप्रदता पर संदेह पैदा कर रहा था। हर व्यक्ति बस हालात सुधरने की प्रतीक्षा की मानसिकता में फंस गया था। इन परिस्थितियों में बढ़ती बेरोजगारी, गिरते उत्पादन और कीमतों की व्यापक मंदी की पकड़ दृढ़ से दृढ़तर होती गई।

संयुक्त राज्य अमरीका में 1929 में केवल 3.2 प्रतिशत श्रमशक्ति बेरोजगार थी पर 1933 में ये आठ गुना से अधिक स्तर (25.2%) पर पहुंच गई। यह मंदी की अवधि की उच्चतम बेरोज़गारी दर थी। वैसे पूरे ही दशक में बेरोजगारी दर 10% रही। वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद 30% कम हो गया था। यह 1939 में जाकर पुन: 1929 के स्तर पर पहुँच पाया।

ब्रिटेन में तो परिस्थितियाँ और भी गई गुजरी थीं। वहां तो मंदी अमरीका से काफी पहले शुरू हो चुकी थी। 1920 के दशक में बेरोजगारी दर में वृद्धि प्रारंभ हो गई थी और यही क्रम अगले दशक में भी चलता रहा। वास्तव में वहां 1923 में ही बेरोज़गारी 10% पर पहुंच गई थी और 1936 तक इस स्तर से ऊपर ही बनी रही।

यह अवस्था प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की कल्पित पूर्ण रोज़गार संतुलन के चित्र में बहुत अलग थी (उस प्रतिमान में तो रोज़गार में कमी बहुत ही अस्थायी या क्षणिक सी होती है)। इस सुदीर्घ उच्च बेरोजगारी दर ने अर्थशास्त्रियों और नीति विशेषज्ञों को इसके कारणों और निवारणों को लेकर पुन: चिंतन करने को विवश कर दिया। इसी चिंतन और विचार मंथन में एक अग्रणि भागीदार जॉन मेनर्ड केंज थे जिन्होंने एक क्रान्तिकारी समष्टि अर्थ सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत के अनुसार बेरोज़गारी का सारा उत्तरदायित्व मांग के अभाव पर था। समग्र मांग में वह कमी निवेश मांग में गिरावट का परिणाम थी। केंजीय सिद्धांत ने इस बेरोज़गारी का सामना करने की एक व्यवहारिक नीति सुझाई। यह नीति थी समग्र मांग का सवंर्धन। केंज ने राजकोषीय नीति अस्त्रों का सहारा लेकर सरकार द्वारा सार्वजनिक प्रकल्पों (निर्माणकार्यों) पर व्यय में वृद्धि द्वारा समग्र मांग संवर्धन का आग्रह किया।

अध्याय 5

समग्र मांग और इसके घटक

हमने पिछले अध्याय में समग्र मांग को अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की सकल या समस्त मांग के रूप में परिभाषित किया था। इस अध्याय में हम इस समग्र मांग के घटकों के विषय में चर्चा करेंगे। साथ ही यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि इन घटकों के आकार को निर्धारित करने वाले तत्व कौन से हैं। हमारी यह सारी चर्चा एक सरल केंजीय प्रतिमान पर आधारित रहेगी।

समग्र मांग के घटक वस्तुओं और सेवाओं के वे समूह होते हैं जिनका प्रयोग क्रमश: निजी उपभोग (C), निजी निवेश (I), सार्वजनिक व्यय (G), तथा *शुद्ध निर्यात (X–M)* के निमित्त होता है। अत: समग्र मांग (AD) होगी:

$$AD = C + I + G + (X - M)$$

आइए, अब समग्र मांग के इन घटकों के निर्धारक तत्वों पर एक-एक करके विचार करें।

उपभोग मांग तथा उपभोग फलन

व्यष्टि स्तर पर हमने उपभोग मांग को उन वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य माना था जिन्हें किसी समय विशेष में परिवार खरीदने में सक्षम और खरीदने के इच्छुक हो। यह मांग वस्तुओं की कीमत, आय, संपत्ति, संभावित आय और परिवारों की पसंद-नापसंद आदि अनेक कारकों से प्रभावित होती है। केंज ने उपभोग के एक मौलिक मनोवैज्ञानिक नियम की रचना कर उपभोग की गतिविधि को एक व्यवहारिक नियम से बांधने का कार्य किया है।

केंज ने अपने मौलिक मनोवैज्ञानिक नियम में *उपभोग व्यय और आय के बीच संबंध* का निरूपण इस प्रकार किया, "जैसे-जैसे आय बढ़ती है, लोग अपना उपभोग भी बढ़ा देते हैं- पर उपभोग की यह वृद्धि आय की वृद्धि से कुछ कम ही रहती है।"[1]

उपभोग और आय के बीच के इसी संबंध को उपभोग फलन कहा जाता है।

उपभोग फलन को हम निम्न समीकरण द्वारा अभिव्यक्त करते हैं:

$$C = \overline{C} + bY \qquad \overline{C} > 0,\ 0 < b < 1$$

जहां

C = उपभोग

$\overline{C}$ = स्वायत्त उपभोग/जीवित रहने के लिए न्यूनतम आवश्यक उपभोग

---

[1] उपभोग और आय का संबंध एक व्यक्ति और परिवार ही नहीं सारी अर्थव्यवस्था पर मान्य रहता है। हां अर्थव्यवस्था के संदर्भ में उपभोग का अर्थ समग्र उपभोग तथा आय का अर्थ समग्र आय हो जाएगा।

b = सीमांत उपभोग प्रवृत्ति

Y = समग्र आय

उर्ध्व अन्तःखण्ड $\overline{C}$ उपभोग व्यय का वह स्वप्रेरित स्तर है जो आय शून्य होने पर भी होता रहता है।[2] इस $\overline{C}$ का मान धनात्मक होता है। दूसरे शब्दों में यदि आय शून्य हो तो भी इतनी (अर्थात $\overline{C}$ के समान) उपभोग तो अवश्य होगा। अतः ऐसी स्थिति की कल्पना भी नहीं हो सकती जिसमें उपभोग बिल्कुल नहीं हो।

उपभोग फलन का ढाल 'b' के समान है। यह आय में परिवर्तन के कारण उपभोग में परिवर्तन की दर है। इसे सीमांत उपभोग प्रवृत्ति कहा जाता है।[3] उदाहरण के लिए यदि $b = 0.6$ तो इसका अर्थ होगा कि आय में एक रुपये की वृद्धि के फलस्वरूप उपभोक्तागण उपभोग पर 60 पैसे अधिक व्यय करने लगेंगे। इसी प्रकार यदि $b = 0.45$ तो एक रुपये की अतिरिक्त आय उपभोग में 45 पैसे की वृद्धि कर देगी।

हमने सीमांत उपभोग प्रवृत्ति (MPC) को धनात्मक माना है। इसका मान 0 से 1 के बीच रहता है। इसका अभिप्राय: है कि आय में एक रुपये की वृद्धि से उपभोग में वृद्धि तो होगी पर यह एक रुपये से कम $(1 \times b)$ के समान ही होगी।[4] यदि $b = 0.90$ तो आय में एक रुपये की वृद्धि के फलस्वरूप उपभोग में $1 \times 0.90 = 0.90$ में रुपये की वृद्धि होगी।

उपभोग फलन के लिए यदि कुछ आंकड़े गढ़ लिए जाएं तो फिर उसे एक रेखाचित्र द्वारा भी दर्शाया जा सकता है। चित्र 5.1 में हम ऐसे ही एक काल्पनिक उपभोग फलन को प्रस्तुत कर रहे हैं। यह हमारे निम्नांकित उपभोग फलन का ही रेखा चित्रांकन है। हमारा काल्पनिक उपभोग फलन है:

$$C = 100 + 0.8Y$$

यह एक सरल रेखा को व्यक्त करने वाले समीकरण है। अतः उपभोग फलन भी एक सरल रेखा होगा। आय के विभिन्न स्तरों पर उपर्युक्त समीकरण के आधार पर आकलित उपभोग व्यय के स्तर तालिका 5.1 में दर्शाए जा रहे हैं।

इस तालिका के प्रथम स्तंभ में उपभोग दर्शाया गया है और तीसरे में आय। दूसरे तथा चौथे स्तंभ में उपभोग और आय के परिवर्तन है। अंतिम स्तंभ यह स्पष्ट कर रहा है कि आय के प्रत्येक स्तर पर सीमांत उपभोग प्रवृत्ति का मान 0.8 ही रहता है। यही इसकी आकलन विधि भी समझाई गई है। जैसे ही आय 600 रुपये से बढ़कर 700 रुपये होती है, उपभोग भी 580 रुपये से बढ़ कर 660 रुपये हो जाता है। यह 80 रुपये की वृद्धि है। अतः $MPC = 80 + 100 = 0.8$ । आय के प्रत्येक स्तर MPC का मान 0.8 ही रहता है, क्योंकि, हमने यह तालिका उपर्युक्त उपभोग फलन के आधार पर ही बनाई है। सभी सरल रेखीय उपभोग फलनों का ढाल और उनसे जुड़ी MPC का मान स्थिर होता है। तालिका 5.1 की जानकारी ही चित्र 5.1 में दर्शायी गई है-

---

[2] उपभोग फलन के बारे में ये दो बातें ध्यान रखनी चाहिए: (क) उपभोग वास्तव में निर्वर्त्य आय पर निर्भर करता है (अर्थात् यह वैयक्तिक आय में से वैयक्तिक करों को घटा कर प्राप्त हुई राशि पर निर्भर करता है। हां हमने अभी तक सरकार की बात नहीं उठाई है। इसलिए इसे आय पर निर्भर कह दिया है। (ख) आय शून्य होने की दशा में उपभोग की व्यवस्था पुरानी बचत से ही हो पाती है। इसीलिए इसे अपबचत के समान माना जाता है। यह उपभोग जीवनधारण के लिए न्यूनतम आवश्यक स्तर पर ही होता है।

[3] अर्थशास्त्र में सीमांत से तात्पर्य 'अतिरिक्त' से होता है। उपभोग प्रवृत्ति का अर्थ होगा उपभोग के लिए आतुरता या तत्परता। इस प्रकार सीमांत उपभोग प्रवृत्ति का अर्थ होगा आय में वृद्धि होने के कारण उपभोग में वृद्धि।

[4] 'b' के मान की सीमाओं का निर्धारण उपभोग के मौलिक मनोवैज्ञानिक नियम द्वारा ही हो जाता है। वह नियम है- आय बढ़ने पर लोग अपना उपभोग बढ़ाते हैं- अर्थात् $b > 0$ किन्तु यह उपभोग वृद्धि आय की वृद्धि से कम रहती है, अर्थात् $b<1$ इन्हीं दोनों अंशों को मिलाकर हम कह सकते हैं कि: $0 < b < 1$.

तालिका 5.1 : उपभोग, आय तथा सीमांत उपभोग प्रवृत्ति

उपभोग = C	उपभोग परिवर्तन ΔC	आय = Y	आय परिवर्तन ΔY	सीमांत उपभोग प्रवृत्ति (MPC) = (2) ÷ 4 = ΔC ÷ ΔY
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)
100	–	0	–	–
180	80	100	100	(80/100) = 0.8
260	80	200	100	(80/100) = 0.8
340	80	300	100	(80/100) = 0.8
420	80	400	100	(80/100) = 0.8
500	80	500	100	(80/100) = 0.8
580	80	600	100	(80/100) = 0.8
660	80	700	100	(80/100) = 0.8
740	80	800	100	(80/100) = 0.8
820	80	900	100	(80/100) = 0.8
900	80	1000	100	(80/100) = 0.8

चित्र 5.1: काल्पनिक उपभोग फलन C = 100 + 0.8Y
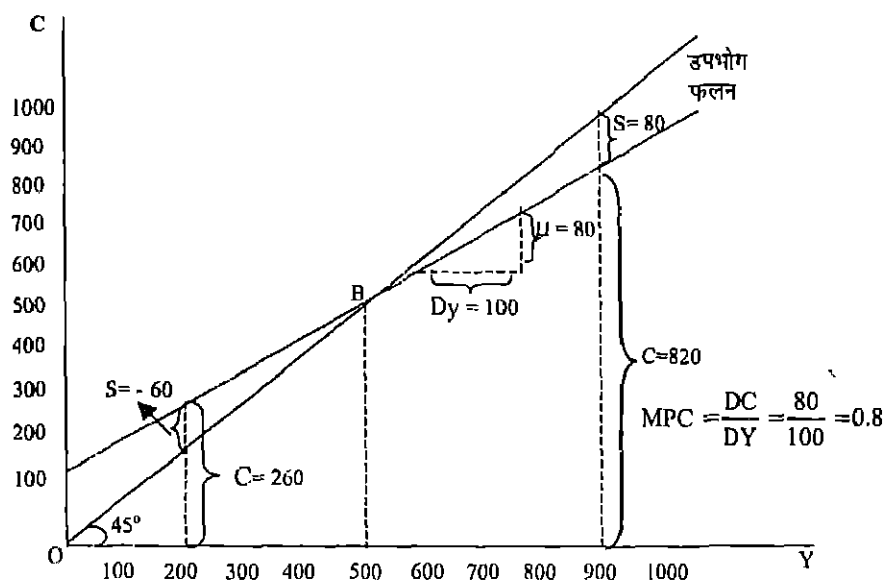
हमारा यह चित्र 5.1 काल्पनिक उपभोग फलन $C = 100 + 0.8Y$ को रेखाचित्र के रूप में दर्शा रहा है। इस चित्र को समझने के लिए 45^0 का कोण बना रही रेखा (जो कि अक्ष केंद्र से खींची गई है), पर ध्यान देना बहुत उपयोगी होगा। दोनों ही अक्षों पर मापन का पैमाना एक समान है। इसीलिए 45^0 की रेखा के प्रत्येक बिंदु पर क्षैतिज और ऊर्ध्व अंतर (जो कि आय और उपयोग व्यय के समान है) एक बराबर रहते हैं।

अत: 45^0 रेखा के प्रत्येक बिंदु पर उपभोग व्यय आय के समान होता है। अत: इस रेखा से तुलना करने पर हमें तुरंत यह पता लग जाता है कि उपभोग व्यय आय से कम, उसके समान या उससे अधिक है।

हमारा उपभोग फलन B बिंदु पर 45^0 रेखा को प्रतिच्छेदित कर रहा है। इस बिंदु को *'समबिंदु'* कहा जा सकता है। यहां परिवारों का उपभोग आय के समान है। वे न तो अप-बचत कर रहे हैं और न ही धनात्मक बचत कर पा रहे हैं। हमारे उपर्युक्त उदाहरण में समबिन्दु पर उपभोग तथा आय का स्तर 500 रुपये है।

बिंदु B के अतिरिक्त उपभोग फलन में कहीं भी उपभोग आय के समान नहीं होता। बिंदु B से बायीं ओर का उपभोग फलन 45^0 रेखा से ऊपर रहता है। अत: उन सभी बिंदुओं पर उपभोग आय से अधिक होगा। उदाहरण के रूप में हम देख सकते हैं कि आय 200 रुपये होने पर उपभोग 260 रुपये है। इस अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए परिवार को कहीं न कहीं से 60 रुपये जुटाने होंगे। आय का अभाव उन्हें पुराने परिसंपत्ति संग्रह का कुछ भाग बेचने या फिर उधार लेने को बाध्य कर देगा तभी जाकर उपभोग के लिए आवश्यक अतिरिक्त 60 रुपयों की व्यवस्था हो पाएगी। इस प्रकार से रुपये जुटाने की प्रक्रिया को ही 'अप-बचत' का नाम दिया जाता है। वह अप-बचत परिवार को आय से अधिक उपभोग के लिए वित्तीय साधन जुटाने में सहायक होती है।[5]

बिंदु B से दाहिनी ओर उपभोग वक्र 45^0 रेखा से नीचे रहता है। अत: उपभोग व्यय आय से कम रहता है। आय का वह अंश जो उपयोग नहीं होता उसे 'बचत' कहते है। यह ठीक भी तो है, हमारे उपभोक्ता के पास आय का प्रयोग करने के दो ही तरीके हैं। या तो इसे उपभोग कर ले या फिर बचा कर रख ले (बचत कर ले)। वह किसी अन्य मार्ग को अपना ही नहीं सकता। इस रेखा चित्र में बचत का मापन 45^0 रेखा और उपभोग फलन के ऊर्ध्व अंतर द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए आय का स्तर 900 रुपये होने पर उपभोग 820 रुपये तथा बचत 80 रुपये होगी।

कुल मिला कर हम कह सकते हैं कि जब उपभोग वक्र 45^0 रेखा से ऊपर होता है तो आय के प्रत्येक स्तर पर उपभोग व्यय आय से अधिक होता है। दूसरे शब्दों में अप-बचत होती है। दोनों वक्रों के प्रतिच्छेदन बिंदु पर उपभोग और आय एक बराबर होते हैं। जब उपभोग वक्र 45^0 रेखा से नीचे रहता है तभी उपभोग का स्तर आय के स्तर से कम होता है। यहीं पर धनात्मक बचत होती है। यह बचत सदैव ही 45^0 रेखा तथा उपभोग वक्र के ऊर्ध्व-अंतर द्वारा मापी जा सकती है।

उपभोग और बचत

आइए, अब उपभोग और बचत के संबंध पर एक दृष्टि डालें। हम इस संबंध-समीकरण से ही बचत फलन की व्युत्पत्ति कर सकते हैं:

$$Y = C + S$$

इसी का व्युत्पन्न रूप होगा

$$S = Y - C$$

अर्थात् जो उपभोग नहीं हुआ वही बचत है।

[5] अप-बचत वास्तव में बचत की विपरीत प्रक्रिया है। यहां व्यक्ति आय में कमी की प्रतिपूर्ति करने के लिए अपनी संचित बचत राशि को कम करके ही अपने उपभोग का स्तर बनाये रख पाता है।

हम यह भी कह सकते हैं कि बचत आय और उपभोग का अंतर होती है। इस समीकरण में उपभोग फलन का प्रयोग कर हम एक बचत फलन की रचना कर सकते है। बचत फलन बचत एवं आय के बीच संबंध का निरुपण करता है। अत: उपर्युक्त समीकरण में C के स्थान पर उपभोग फलन रखकर हम पायेंगे:

$$S \equiv Y - C$$

$$= Y - (\bar{C} + bY) \quad C = \bar{C} + bY$$
$$= Y - \bar{C} - bY$$

$$= -\bar{C} + (1-b)Y$$

यही बचत फलन है। यहां ऊर्ध्व अन्त:खण्ड (-) $\bar{C}$ के समान है- यह आय का स्तर शून्य होने पर उपभोक्ता द्वारा की गई बचत के बराबर है। हम जानते हैं कि $\bar{C}$ सदैव धनात्मक होगा। अत: इस शून्य आय बिन्दु पर बचत ऋणात्मक (= अप-बचत) होगी। दूसरे शब्दों में शून्य आय पर $\bar{C}$ के समान अप-बचत होगी। ध्यान दें कि आय शून्य होने की दशा में सारे उपभोग की व्यवस्था अप-बचत के माध्यम से ही हो पाती है। हमारा समीकरण $Y = C + S$ भी इसी बात पर आग्रह करता है। इसमें S का मान ऋणात्मक-धनात्मक कुछ भी हो सकता है।

बचत फलन का ढाल (1-b) के समान है। यह आय में वृद्धि के कारण बचत में हो रही वृद्धि को दर्शाता है- अर्थात् यह बचत परिवर्तन को प्रति इकाई आय परिवर्तन की इकाइयों में दर्शा रहा है ($=\Delta S/\Delta Y$)। इसी को सीमांत बचत प्रवृत्ति (MPS) कहा जाता है। हम जानते ही हैं कि, $b<1$, अत: $(1-b)>0$, अर्थात् MPS धनात्मक होगी। दूसरे शब्दों में बचत आय का वृद्धिमान फलन होती है। मान लो कि $MPC = b = 0.8$ तो फिर $MPS = 1-b$ का मान $1-0.8 = 0.2$ होगा अर्थात आय में एक रुपये की वृद्धि होने पर बचत 0.2 रुपये बढ़ जाएगी।

एक बार फिर गौर करें: $MPS = 1-b = 1-MPC$। इसका अर्थ होगा कि अतिरिक्त आय का वह भाग जो उपभोग नहीं हुआ बचत में जुड़ गया। इसका कारण भी यही है कि आय से दो ही काम लिए जा सकते हैं- उसे उपभोग किया जा सकता है या बचाया जा सकता है। अत: सदैव ही $MPC + MPS = 1$ कथन सत्य रहता है।

अपने उपभोग फलन संबंधी पूर्व प्रयुक्त उदाहरण का प्रयोग कर हम उससे संबंधित बचत फलन की इस प्रकार व्युत्पत्ति कर सकते हैं:

$$S = \bar{C} + (1-b)Y$$
$$= -100 + (1-0.8)Y$$
$$= -100 + 0.2Y$$

इस समीकरण का प्रयोग कर हम तालिका 5.2 में आय के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उपभोग और बचत के स्तरों की रचना कर रहे हैं। ध्यान दें कि: (क) उपभोग जमा बचत सदा आय के समान होते हैं, तथा (ख) $MPC + MPS = 1$ रहते हैं।

स्तंभ (1) से (5) तक तो तालिका 5.1 से सीधे ही ले लिए गए है। स्तंभ (6) में हम आय के विभिन्न स्तरों पर बचत दर्शा रहे हैं। ये आंकड़े बचत फलन का प्रयोग कर आंकलित किए गए हैं। स्तंभ (8) में MPS का आकलन दर्शाया गया है। जैसे ही आय 600 रुपये से बढ़कर 700 रुपये होती है (100 रुपये की वृद्धि) बचत भी 20 रुपये से बढ़कर 40 रुपये हो जाती है (20 रुपये की वृद्धि)। अत: MPS हुई $20/100 = 0.2$

MPS का मान प्रत्येक आय स्तर पर वही रहता है- इसका कारण हमारे इस विशेष बचत फलन की रचना में छुपा है जिसका हमने तालिका 5.2 को बनाने के लिए प्रयोग किया है। हमारा बचत फलन स्थिर

तालिका 5.2 : उपभोग बचत संबंध

आय Y	आय में परिवर्तन = Δy	उपभोग C	उपभोग में परिवर्तन=ΔC	MPS= ΔC/ΔY	बचत S	बचत में परिवर्तन ΔS	MPC= ΔS/ΔY	C + S	MPC + MPS
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)	(8)	(9)	(10)
0	-	100	-	0.8	(-) 100	-	·	0	1
100	100	180	80	0.8	(-) 80	20	0.2	100	1
200	100	260	80	0.8	(-) 60	20	0.2	200	1
300	100	340	80	0.8	(-) 40	20	0.2	300	1
400	100	420	80	0.8	(-) 20	20	0.2	400	1
500	100	500	80	0.8	0	20	0.2	500	1
600	100	580	80	0.8	20	20	0.2	600	1
700	100	660	80	0.8	40	20	0.2	700	1
800	100	740	80	0.8	60	20	0.2	800	1
900	100	820	80	0.8	80	20	0.2	900	1
1000	100	900	80	0.8	100	20	0.2	1000	1

ढाल वाली सरल रेखा है। स्थिर ढाल स्थिर MPS की यह विशेपता सभी सरल रेखीय बचत फलनों में सांझी रहती है।

स्तंभ (9) में हम उपभोग व्यय और बचत का योग दर्शा रहे हैं। ध्यान दे कि इसकी सभी प्रविष्टियां स्तंभ (1) के समान है। कारण यही है कि आय को या तो उपभोग कर लिया जाता है या बचा लिया जाता है- उसका कोई तीसरा उपयोग संभव नहीं होता। इसीलिए प्रत्येक आय स्तर पर उपभोग और बचत का योग आय के समान रहता है। स्तंभ (10) में MPC तथा MPS का योग दर्शाया गया है। ध्यान दें कि इनका योग भी सदा एक इकाई के समान रहता है। कारण यही है कि आय की वृद्धि से उपयोग में वृद्धि होगी या बचत में। अत: जितनी वृद्धि उपभोग में नहीं होती उतनी बचत की वृद्धि में परिवर्तित हो जाती हैं।

तालिका 5.2 की सारी जानकारी का रेखांकन कर हम चित्र 5.2 की रचना कर सकते हैं।

चित्र 5.2 के भाग (क) में तो हमारा चित्र 5.1 वाला पूर्व परिचित उपभोग फलन ही है। भाग (ख) में बचत फलन दर्शाया गया है। यह वस्तुत: भाग (क) के उपभोग फलन का ही 'पूरक' अंश है। भाग (क) में बचत 45^0 रेखा और उपभोग फलन के बीच का ऊर्ध्व अंतर है- इन्हीं ऊर्ध्व अंतरों को अलग से दर्शाते हुए भाग (ख) का बचत फलन चित्रित किया गया है।

आय का स्तर 500 रुपये होने पर भाग क में उपभोग 500 रुपये और बचत शून्य थी। इस B बिंदु को ही भाग 'ख' में बचत फलन और क्षैतिज अक्ष के प्रतिच्छेदन बिन्दु B द्वारा दर्शाया गया है। आय का स्तर 200 रुपये होने की दशा में उपभोग = 260 रुपये तथा बचत = (-)60 रुपये (अर्थात अप-बचत = 60
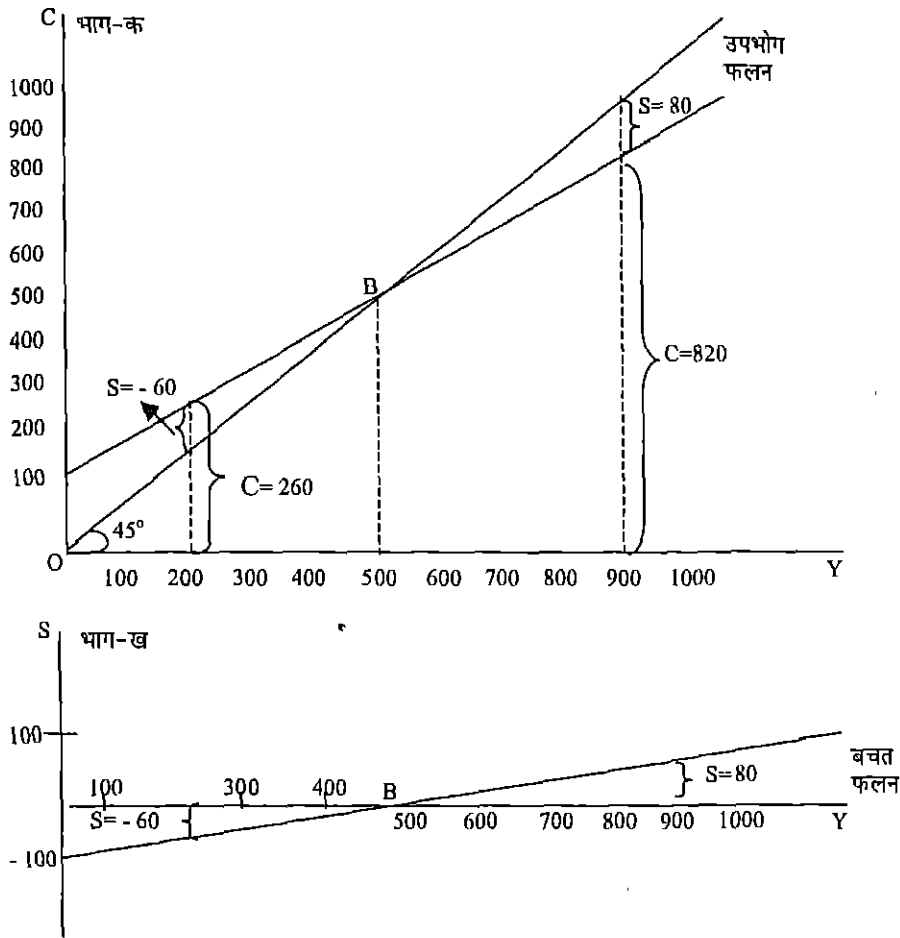
चित्र 5.2: उपभोग फलन और उससे संबंधित बचत फलन

रुपये)। इस आय स्तर पर बचत वक्र क्षैतिज अक्ष से नीचे रहकर (–)60 की राशि दर्शा रहा है। इसी प्रकार आय = 900 रुपये पर उपभोग = 820 रुपये और बचत = 80 रुपये। अत: बचत वक्र आय अक्ष से ऊपर धनात्मक बचत (=80 रुपये) दर्शा रहा है।

अत:, हम कह सकते हैं कि भाग 'क' में B बिन्दु की बायी ओर उपभोग वक्र 45° रेखा से ऊपर रहता हैं– यहां उपभोग का स्तर आय से अधिक है। इसी को भाग 'ख' में भी दर्शाया गया है– यहां B से बायीं ओर का बचत फलन क्षैतिज अक्ष से नीचे रहता है और ऋणात्मक (या अप) बचत का सूचक है।

भाग 'क' में B बिन्दु से दाहिनी और उपभोग फलन 45° रेखा से नीचे रहता है– अर्थात उपभोग का स्तर आय से कम रहता है। इसीलिए भाग 'ख' में B से दाहिनी ओर बचत धनात्मक दर्शाते हुए बचत वक्र को आय अक्ष से ऊपर बनाया गया है।

उपभोग और बचत की औसत प्रवृत्तियां

उपभोग फलन से हम प्रत्येक आय स्तर पर उपभोग-आय अनुपात जान सकते हैं। यही C/Y का अनुपात *औसत उपभोग प्रवृत्ति* (APC) *कहा जाता* है। APC प्रत्येक आय स्तर पर औसत उपभोग-आय संबंध को दर्शाता है।

इसी प्रकार हम बचत फलन द्वारा औसत बचत और आय का अनुपात जान सकते हैं। प्रत्येक आय स्तर पर यह औसत बचत प्रवृत्ति (APS) बचत ओर आय के अनुपात के समान होती है।

सूत्र के रूप में हम कह सकते हैं:

APC = C/Y तथा APS = S/Y

APC तथा APS का योग सदा ही एक के समान रहता है। (इसका कारण हमें पहले से ही ज्ञात है: आय का या तो उपभोग होता या फिर बचत)। आइए, हम इस कथन के सत्यापन का प्रयास करें। आय, उपभोग और बचत का संबंध तो हम जानते ही हैं:

$$Y \equiv C + S$$

दोनों और Y से भाग देकर:

$$Y/Y \equiv C/Y + S/Y$$

अर्थात, $1 \equiv APC + APS$

अपने पुराने उपभोग व बचत फलनों के उदाहरण का प्रयोग कर हम प्रत्येक आय स्तर पर APC तथा APS का मान आकलित कर सकते हैं। यही कार्य हमने तालिका 5.3 में किया है:

स्तंभ (3) में APC का आकलन दर्शाया गया है, प्रत्येक आय स्तर पर यह उपभोग और आय का अनुपात है। इसी प्रकार स्तंभ (5) में प्रत्येक आय स्तर पर APS का आकलन बचत को आय द्वारा भाग देकर किया गया है। स्तंभ (6) में APC तथा

तालिका 5.3: उपभोग और बचत की औसत प्रवृत्तियाँ

Y	C	APC (2)/(1)	S	APS (4)/(1)	APC+APS
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
0	100	∞	-100	∞	1
100	180	1.8	-80	-0.8	1
200	260	1.3	-60	-0.3	1
300	340	1.13	-40	-0.13	1
400	420	1.05	-20	-0.05	1
500	500	1	0	0	1
600	580	0.97	20	0.03	1
700	660	0.94	40	0.06	1
800	740	0.92	60	0.08	1
900	820	0.91	80	0.09	1
1000	900	0.90	100	0.10	1

नोट : (क) यहां ∞ 'अनंत' का द्योतक है।

(ख) तालिका में सभी आंकड़ों को 2 दशमलव बिंदुओं तक ही आकलित किया गया है।

APS का जोड़ किया गया है और यह हमारी आशा के अनुरूप प्रत्येक आय स्तर पर इकाई के समान ही रहता है (APC + APS = 1)। कारण यही है कि आय का उपभोग होगा या बचत। अतः आय का जो अंश उपभोग में नहीं आता वही अंश बच जाता है।

हमारी यह तालिका एक अन्य बात भी स्पष्ट कर रही है: आय में वृद्धि होने पर APC निरंतर घटती जाती है। साथ ही APS में निरंतर वृद्धि होती है। इसका अर्थ होगा कि आय बढ़ने पर उसके बचाए गए अनुपात में वृद्धि होती है तथा उपभोग पर खर्च अनुपात में कमी आती है।

निवेश

समग्र मांग का दूसरा घटक निवेश है। निवेश का अर्थ है *पूँजीगत* पदार्थों के भण्डार में वृद्धि। यह पूँजी यंत्र-संयंत्रादि, गृहोपयोगी संरचनाओं और भण्डार आदि के रूप में हो सकती है। समष्टिअर्थशास्त्र में निवेश की दो प्रमुख भूमिकाएं होती हैं। एक तो निवेश की प्रकृति के अस्थायीत्व के कारण निवेश परिवर्तन समग्र मांग के स्तर में उच्चावचन के प्रमुख कारण बन जाते हैं। दूसरे, पूंजी की संवृद्धि के माध्यम से निवेश अर्थव्यवस्था को उच्चतर स्तरों पर उत्पादन कर सकने की क्षमता प्रदान करता है।

हमने निवेश के तीन स्वरूप बताए हैं- नए भवनों का निर्माण, भण्डार में वृद्धि और नए यंत्र-संयंत्रादि का निर्माण। सामान्यतः तीसरी श्रेणी का निवेश ही सर्वाधिक विशाल होता है। अध्याय के इस खंड में हम निवेश मांग के निर्धारकों पर चर्चा करेंगे। यह चर्चा मुख्यतः स्थिर व्यावसायिक निवेश की तीसरी श्रेणी पर ही केंद्रित होगी।

सामान्यतः फर्में निवेश उस समय करती हैं जब उन्हें निवेश के लाभदायक होने की आशा हो- अर्थात उन्हें अपेक्षा हो कि उनका निवेश अपनी लागत से अधिक आगम प्रदान करेगा। अतः निवेश की प्रक्रिया को समझने के लिए हमें तीन बातों को जानना पड़ेगा: आगम, लागत तथा अपेक्षाएं।

आगम: निवेश से फर्म को प्राप्त आगमों में वृद्धि तभी हो सकती है जब (निवेश के कारण) वह बाज़ार में अधिक माल बेच पाने में सफल हो सके। अतः निवेश संबंधी निर्णय बाज़ार में उस निवेश से उत्पादित हो सकने वाली वस्तुओं आदि की मांग पर निर्भर करेगा। यदि ग्लूकोज बिस्कुटों की मांग अधिक हो तो फिर बिस्कुट निर्माता इनके निर्माण के लिए नई मशीनें लगाने में निवेश कर आगम में वृद्धि की अपेक्षा कर सकते हैं।

लागत: निवेश का दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्धारक निवेश की लागत होता है। एक प्रकार की लागत तो यंत्र-संयंत्र और संरचनाओं की निर्माण लागत व उनके रख-रखाव पर होने वाला खर्च होती है। लागत का दूसरा प्रकार निवेश के लिए वित्त जुटाने की लागत- या बाज़ार में प्रचलित ब्याज की दर होती है।

पूँजीगत पदार्थ अनेक वर्षों तक काम आते हैं-इसीलिए फर्में इनमें निवेश के लिए बाज़ार से उधार लेने में संकोच नहीं करती। इस उधार की लागत ब्याज के रूप में चुकाई जाती है। ब्याज दर उधार लिए गए के प्रयोग के लिए प्रति समय इकाई चुकायी गई कीमत होती है।

अपेक्षाएं: निवेश के निर्धारण में तीसरा तत्व भविष्य के प्रति उद्यमीय अपेक्षाएं और व्यवसाय के प्रति आश्वस्ति की भावना होती है। अपेक्षाएं भविष्य की संभावनाओं के विषय में व्यक्ति के पूर्वानुमानों पर निर्भर होती हैं। फर्म तभी निवेश करती है जब उसे निवेश के लाभप्रद होने की आशा (अपेक्षा) हो (अर्थात् उसे लग रहा हो कि निवेश से कमाई गई आगम उसकी लागत से अधिक होगी । इस प्रकार से निवेश एक दाँव की तरह है- जिसमें यह आशा की जाती है कि भविष्य की आगम वर्तमान और संभावित

(भविष्य में होने वाली) लागतों से अधिक होगी। यानि दांव यह है कि निवेश लाभप्रद होगा। किंतु भविष्य तो अनजाना और अपूर्वानुमेय होता है। अत: फर्में केवल अनुमान ही लगा सकती है और उन्हीं के आधार पर (निवेश की लाभप्रदता विषयक) अपेक्षाओं का निर्धारण कर सकती हैं। अपूर्वानुमेय घटनाक्रम के विषय में अनुमानों पर आश्रित पूर्वापेक्षाओं पर निर्भर निवेश में भारी अस्थिरता (या चपलता) का पाया जाना स्वाभाविक ही होगा।

निवेश मांग वक्र

निवेश मांग को प्रभावित करने वाले कारकों में से सबसे अधिक महत्त्व ब्याज की दर का होता है। निवेश मांग और ब्याज दर के संबंध को ही निवेश फलन का नाम दिया जाता है। ब्याज दर और निवेश मांग के बीच ऋणात्मक (अथवा विलोम) संबंध होता है। दूसरे शब्दों में यदि ब्याज की दर उच्च हो तो निवेश मांग का स्तर निम्न रह जाता है। आइए, एक उदाहरण की सहायता से इस विलोम संबंध को और स्पष्ट रूप से जानने का प्रयास करें।

एक सरल-सी अर्थव्यवस्था की कल्पना करें। यहां फर्मों को निवेश के लिए 8 प्रकल्प उपलब्ध हैं इन्हें हम A, B, C.........H द्वारा दर्शा रहे हैं। सरलता के लिए ही हम ये भी मान रहे हैं कि: (क) सभी प्रकल्पों से प्रतिवर्ष निवल आगम का प्रवाह स्थिर रहता है, (ख) सभी निवेशों का पूरा वित्तीयन बाज़ार दर पर उधार लेकर किया जाता है, तथा (ग) इन प्रकल्पों की जीवन अवधि इतनी लंबी है कि कभी इनके प्रतिस्थापन की आवश्यकता ही नहीं होगी। इन सभी प्रकल्पों की वित्तीय जानकारी हम तालिका 5.4 में दर्शा रहे हैं।

हमने तालिका 5.4 में 8 प्रकल्पों को लाभप्रदता के क्रम में संजोया है। दूसरा स्तंभ प्रकल्प का आकार अर्थात आवश्यक निवेश दर्शा रहा है। तीसरे में प्रति 100 रुपये निवेश के पीछे शुद्ध प्राप्ति दर्शायी गई है। चौथे व पांचवे स्तंभों में क्रमश: 10% एवं 5% ब्याज

तालिका 5.4 ब्याज की दर और निवेश

प्रकल्प	प्रकल्प का आकार (लाख रुपये)	प्रति 100 रु. पर वार्षिक आगम	प्रकल्प की प्रति 100 रु. पर लागत ब्याज दर		ब्याज की इन दरों पर प्रति 100 रु. निवेश शुद्ध लाभ	
			10%	5%	10%	5%
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
A	1	150	10	5	140	145
B	4	22	10	5	12	17
C	10	16	10	5	6	11
D	10	13	10	5	3	8
E	5	11	10	5	1	6
F	15	9	10	5	–1	4
G	10	6	10	5	–4	1
H	20	4	10	5	–6	–1

दरों पर प्रकल्पों की प्रति 100 रुपये निवेश आधार पर लागत दर्शायी गई है। सीधी सी बात है यदि ब्याज दर 10% हो तो 100 रुपये उधार लेने की वार्षिक लागत 10 रुपये होगी और 5% दर पर यही लागत 5 रुपये बन जाएगी। अंतिम दो स्तंभों में वार्षिक निवल लाभ (आगम-लागत) दर्शाये गए है। फर्म किसी प्रकल्प से वार्षिक आगम की उसकी वार्षिक पूँजीगत लागत से तुलना करेगी (यह पूँजीगत लागत ब्याज की दर पर निर्भर करती है)। वार्षिक आगम और वार्षिक लागत का यह अंतर ही निवल वार्षिक लाभ है। जब तक वार्षिक निवल लाभ धनात्मक हो, निवेश से कमाई होगी। यदि यह वार्षिक निवल लाभ ऋणात्मक हो तो फिर निवेश घाटे का सौदा हो जाएगा। अत: फर्में केवल उन्हीं प्रकल्पों में निवेश करेंगी जिनके निवल वार्षिक लाभ धनात्मक हों।

तालिका 5.4 के अंतिम स्तंभ पर विचार करें। यह 5% ब्याज दर पर निवल वार्षिक लाभ दर्शा रहा है। इस ब्याज दर पर A से G तक के सातों प्रकल्प लाभप्रद रहेंगे। अधिकतम लाभ कमाने की इच्छुक फर्में इन सभी में निवेश करेंगी। स्तंभ (2) से हमें तुरंत पता चल जाता है कि यह सारा निवेश 55 लाख रुपये होगा।

आइए, अब ब्याज की दर को 10 प्रतिशत करके देखें। प्रकल्पों के वित्तीयन की लागत अब दुगुनी हो जाएगी। अब स्तंभ (6) हमें यह बता देगा कि प्रकल्प F तथा G में निवेश करना भी लाभप्रद नहीं रहेगा। अत: 10 प्रतिशत ब्याज की दर पर ये दोनों प्रकल्प (F तथा G) रद्द कर दिए जाएंगे। फिर तो सकल निवेश मांग घट कर 30 लाख रुपये ही रह जाएगी।

इस चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्याज दर की वृद्धि से निवेश मांग कम हो जाती है। इसका कारण यही है कि ब्याज बढ़ने से सभी प्रकल्पों की पूंजी लागतें तो बढ़ती है किंतु उनकी आगम अपरिवर्तित रहती हैं। अत: ब्याज दर में वृद्धि होने से अपेक्षतया कम प्रकल्प लाभप्रद रह पाते हैं। हमारी फर्में केवल लाभप्रद प्रकल्पों में ही निवेश करती हैं- अत: ब्याज दर बढ़ने पर निवेश मांग कम हो जाती है।

सरकारी व्यय

सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की मांग हमारी समग्र मांग का तीसरा घटक है। इसका आकार सरकार की नीतियों पर निर्भर रहता है। हम अगले अध्याय में चल कर देखेंगे कि सरकारी व्यय में परिवर्तन मांग प्रबंधन का एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र होता है।

शुद्ध निर्यात

समग्र मांग का चौथा घटक शुद्ध निर्यात है। यह निर्यात तथा आयात का अंतर होता है। यह विदेशियों द्वारा हमारे घरेलू उत्पाद पर व्यय और हमारे नागरिकों द्वारा शेष विश्व के उत्पादन पर किए गए व्यय के अंतर का समग्र मांग के स्तर पर प्रभाव होता है। जब विदेशी हमारा माल खरीदते हैं तो उनकी मांग भी हमारे उत्पादन के लिए घरेलू क्षेत्र की मांग में जुड़ जाती है। इसीलिए यह निर्यात समग्र मांग का अंग बन जाते हैं। इसके विपरीत हमारे देश की आर्थिक इकाईयों द्वारा विदेशों में बनी वस्तुओं की खरीदारी करने से उनकी घरेलू उत्पाद खरीदने की क्षमता में कमी आती है। इसीलिए हमारे आयात घरेलू वस्तुओं और सेवाओं की समग्र मांग को घटा देते हैं।

केंजीय विश्लेषण पद्धति में आय और रोज़गार का निर्धारण मुख्यत: समग्र मांग के स्तर पर ही निर्भर करता है। समग्र मांग के विभिन्न घटकों का विवरण जानने के बाद अब हम आय और उत्पादन के निर्धारण की केंजीय व्याख्या को समझ पाने की अवस्था में आ गए हैं।

सार संक्षेप

- समग्र मांग के घटक उपभोग, निवेश, सरकारी व्यय और शुद्ध निर्यात होते हैं।
- उपभोग और आय का संबंध ही उपभोग फलन कहलाता है।
- उपभोग परिवर्तन को आय परिवर्तन की इकाईयों में मापने वाला उपभोग फलन का ढाल सीमांत उपभोग प्रवृत्ति कहलाता है।
- आय का वह भाग जो उपभोग होने से बचा रहता है, बचत कहा जाता है।
- बचत और आय के संबंध को बचत फलन कहते हैं।
- बचत फलन का ढाल बचत और आय के परिवर्तनों का अनुपात है। इसे ही सीमांत बचत प्रवृत्ति कहते हैं।
- निवेश का अर्थ है संरचनाओं, संयंत्रों और भण्डार रूपी पूँजीगत पदार्थों की मात्रा में वृद्धि।
- निवेश की प्रक्रिया को ढंग से समझने में तीन तत्वों का बहुत महत्त्व है। ये तत्व हैं आगम, लागत, और अपेक्षाएं।
- निवेश मांग तथा ब्याज की दर के संबंध को ही निवेश फलन कहते हैं।
- निवेश मांग और ब्याज की दर के बीच विलोम संबंध होता है।
- सरकार द्वारा वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी ही सरकारी व्यय कहलाती है।
- शुद्ध निर्यात हमारे निर्यातों तथा आयातों का अंतर होता है।

अभ्यास

1. समग्र मांग के घटकों की सूची बनाइए।
2. उपभोग फलन क्या होता है?
3. बचत फलन क्या होता है?
4. सीमांत उपभोग प्रवृत्ति की परिभाषा करें।
5. सीमांत बचत प्रवृत्ति की परिभाषा कीजिए।
6. निवेश को समझ पाने में किन तत्वों की जानकारी महत्त्वपूर्ण होती है?
7. निवेश मांग फलन क्या होता है?

परिशिष्ट 5.1 : ब्याज की दर और निवेश मांग में विलोम संबंध

आप जानते ही हैं कि निवेश से पूँजी में वृद्धि होती है और यह अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता को बढ़ा देती है। हम यह मानकर चल रहे हैं कि प्रोद्योगिकीय ज्ञान और रोजगार के स्तर अपरिवर्तित हैं।

निवेश तभी किया जाएगा जब वह 'लाभप्रद' हो। दूसरे शब्दों में पूंजीगत पदार्थ से प्राप्य आय प्रवाह का बट्टाकृत मूल्य योग उसकी क्रय लागत से अधिक होना चाहिए।

मान लीजिए कि एक लड्डु बनाने की मशीन में निवेश की बात चल रही है। यह मशीन 4329.40 रुपये में मिल रही है। यह मशीन (चालन लागत निकाल कर) अगले पांच वर्षों तक रुपये 1000 प्रतिवर्ष कमाकर दे सकती है। अब हम *पूँजी की सीमांत दक्षता* (MEC) का आकलन इस प्रकार कर सकते हैं:

'n' वर्षों तक प्राप्य आय प्रवाह का बट्टाकरण सूत्र इस प्रकार होता है:

$$C = \frac{R_1}{(1+r)} + \frac{R_2}{(1+r)^2} + \frac{R_3}{(1+r)^3} + \frac{R_4}{(1+r)^4} + \frac{R_5}{(1+r)^5} + \ldots\ldots\ldots \frac{R_n}{(1+r)^n}$$

यहाँ

C = पूंजी पदार्थ की क्रय मूल्य अथवा पूँजीगत पदार्थ की लागत

R_1 = पूंजीगत पदार्थ की प्रथम वर्ष में प्राप्त शुद्ध आय

r = पूँजी की सीमांत दक्षता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि MEC वह बट्टादर है जो पूँजी पदार्थ से प्राप्त आय प्रवाह के बट्टाकृत मूल्यमान के योग को उसकी क्रयलागत के समान बना देती है। हम किसी भी निवेश परियोजना की वर्तमान लागत और उससे संभावित आय प्रवाह का प्रयोग कर उस प्रकल्प की जीवन अवधि के आधार पर उसकी पूँजी की सीमांत दक्षता (MEC) का आकलन कर सकते हैं। हमारे लड्डु मशीन के उदाहरण के लिए:

$$= \frac{1000}{(1+r)} + \frac{1000}{(1+r)^2} + \frac{1000}{(1+r)^3} + \frac{1000}{(1+r)^4} + \frac{1000}{(1+r)^5}$$

हम इस समस्या का प्राकलन बट्टा तालिकाओं द्वारा अधिक आसानी से कर सकते हैं- वैसे अनुमानित r रखकर उसमें आवश्यक उत्तरोत्तर संशोधन विधि का भी प्रयोग किया जा सकता है। उपर्युक्त उदाहण में r का मान 0.05 बनता है- अर्थात 5% प्रतिशत।

इस MEC की बाजार में प्रचलित ब्याज दर से तुलना यह स्पष्ट कर देती है कि निवेश लाभप्रद है या नहीं। यदि MEC ब्याज दर से अधिक हो, तो लाभ होगा। यदि MEC ब्याज दर से कम हो तो हानि होगी। बाज़ार की ब्याज दर को तुलना की कसौटी बनाने के दो कारण हैं:

- यदि फर्म निवेश के लिए बाजार से ऋण ले तो निवेश से प्राप्य आय उधार की लागत अर्थात ब्याज की दर से अधिक होनी ही चाहिए अथवा लाभ नहीं होगा।
- यदि फर्म अपनी धनराशि का निवेश कर रही हो, तो भी वह बाज़ार में उधार देकर प्राप्त हो सकने वाली आय से निवेश प्रकल्प की आय की तुलना अवश्य करेगी। अतः MEC के बाज़ार ब्याज दर से कम होने पर उधार देने से अधिक लाभ होगा।

यहां बाजार दर निवेश की अवसर लागत बन जाती है। निवेश तभी लाभप्रद होगा जब उसकी MEC अवसर लागत से अधिक हो।

सीमांत दक्षता वक्र

निवेश मांग और MEC के संबंध को MEC Schedule[1] वक्र का नाम दिया जाता है। सभी फर्मों के सीमांत दक्षता वक्रों के योग से हम अर्थव्यवस्था व्यापी पूँजी की सीमांत दक्षता वक्र की रचना कर सकते हैं। हम चित्र परि. 5.1 में किसी काल्पनिक फर्म की MEC का चित्रांकन कर रहे हैं। मान लो कि इस फर्म के लिए सबसे लाभप्रद निवेश अवसर 1000 रुपये की मशीन खरीदना है- यहां उसकी MEC 10% है। इससे अगला निवेश 500 रुपये की छोटी मशीन खरीदना हो सकता है- पर उसकी MEC 8% ही होगी। इससे आगे तो फर्म अपने संयंत्र का ही 1500 रुपये की लागत में संवर्धन कर सकती है- किंतु उस दशा में MEC केवल 3% होगी। हन उन तीनों प्रकल्पों को लाभ के ह्रासमान क्रम के अनुसार चित्र परि. 5.1 में दर्शा रहे हैं।
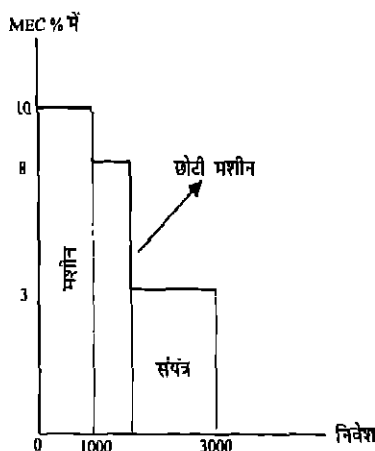
चित्र परि.5.1: एक फर्म की MEC का चित्रांकन

चित्र में मोटी रेखा द्वारा MEC वक्र दर्शाया गया है। यदि सभी फर्मों के इस प्रकार MEC वक्रों का क्षैतिज योग कर लिया जाए तो हमें पूरी अर्थव्यवस्था का MEC वक्र मिल जाएगा। यह वक्र समुच्चयन के प्रभाव के कारण सीढ़ीदार नहीं वरन् दाहिनी और ढलवां सतत् वक्र होगा।

एक फर्म के MEC वक्र की रचना करते समय हम पूँजीगत पदार्थों की कीमत स्थिर मान सकते हैं। किंतु जब सभी फर्मों के MEC वक्रों का योग करने पर तो तरह-तरह के प्रकल्पों की पूँजी लागत स्थिर नहीं रह पाएगी इसमें वृद्धि हो जाएगी। बढ़ी हुई पूँजी लागत पर आधारित समग्र MEC वक्र फर्मों के वक्रों के सामान्य योग वाले वक्र नीचे खिसक जाएंगे।

पूँजीगत पदार्थों की बढ़ी हुई लागतों का भी आकलन करने के बाद बनाए गए समग्र वक्र को हम निवेश की सीमांत दक्षता (MEI) वक्र का नाम देते हैं। सारी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में MEI वक्र का वही व्यावहारिक महत्त्व होगा जो किसी एक फर्म के लिए उसके अपने MEC वक्र का होता है। MEI वक्र दाहिनी ओर ढलवां होगा- अर्थात जैसे-जैसे निवेश में वृद्धि होगी, इसकी सीमांत दक्षता में कमी आ जाएगी। कारण स्पष्ट ही है- निवेश में वृद्धि से पूँजी में वृद्धि होगी और अधिक पूँजी स्तर का अर्थ होगा पूँजी की सीमांत उत्पादिता में कमी। (अर्थात् नीचे की ओर जाना) अतः MEC की गिरावट के कारण ही पूँजीगत पदार्थों की प्रत्येक अगली इकाई से संभावित प्राप्तियां कम हो जाती हैं। हम ऐसी ही दशा को दर्शाने वाले एक MEI वक्र को चित्र परि.5.2 में प्रस्तुत कर रहे हैं।

चित्र परि.5.2 में X-अक्ष पर पूरी अर्थव्यवस्था में निवेश की सीमांत दक्षता तथा Y-अक्ष पर निवेश को दर्शाया गया है।
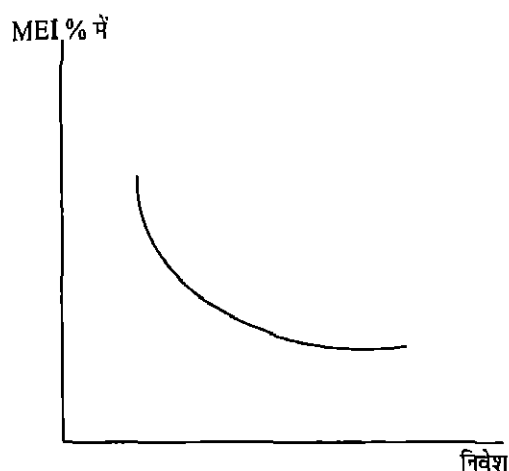
चित्र परि.5.2: निवेश की सीमांत दक्षता

निवेश मांग वक्र

हमारा MEI वक्र अभी यह नहीं बता पाता कि कितना निवेश होगा। निवेश का परिमाण तो ब्याज की दर पर निर्भर होगा। निवेश तब तक बढ़ना रहेगा जब तक कि निवेश की सीमांत दक्षता ब्याज दर के समान नहीं हो जाती। वहीं निवेश का लाभप्रद स्तर होगा उससे अधिक निवेश करना उचित नहीं रहेगा।

अत: हम Y–अक्ष पर MEI के मान के स्थान पर ब्याज की दर को अंकित कर चित्र परि.5.2 के MEI
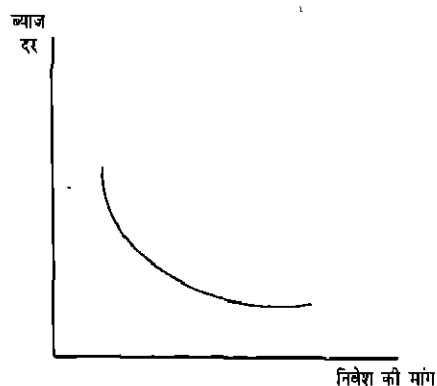
चित्र परि.5.3: निवेश का मांग वक्र

वक्र को ही चित्र परि.5.3 में निवेश मांग वक्र में परिवर्तित कर सकते हैं।

यहां X–अक्ष पर अर्थव्यवस्था में निवेश मांग और Y–अक्ष पर ब्याज की दर दर्शायी गई है। यदि 200 करोड़ रुपये के निवेश स्तर पर MEI = 15% तो हम कहेंगे कि ब्याज दर 15% होने पर अर्थव्यवस्था में 200 करोड़ रुपये के समान निवेश होगा। निवेश मांग वक्र की रचना या स्वरूप MEI वक्र जैसी ही होती है। MEI दाहिनी ओर ढलवां होता है अत: निवेश मांग वक्र भी दाहिनी ओर ढलवां रहेगा। दूसरे शब्दों में: ब्याज की दर और निवेश मांग के बीच विलोम संबंध होता है।

अध्याय 6

आय, रोज़गार तथा उत्पादन निर्धारण

पिछले अध्याय में हमने समग्र मांग के घटकों की जानकारी प्राप्त की थी। कैंजीय विश्लेषण विधि में उत्पादन का संतुलन स्तर केवल समग्र मांग द्वारा ही निर्धारित हो जाता है। वर्तमान अध्याय का पहला भाग कैंजीय विधि से संतुलन उत्पादन के निर्धारण की व्याख्या करेगा तथा इसके बाद निवेश गुणक की अवधारणा तथा कार्यप्रणाली का परिचय दिया जाएगा। दूसरे भाग में मांग बाहुल्य और अभाव की समस्याओं की समीक्षा और उनके समाधान के उपायों पर चर्चा की जाएगी।

उत्पादन के संतुलन स्तर का निर्धारण

हम केवल दो-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था की मान्यता के आधार अति-सरलीकृत स्तर पर उत्पादन के संतुलन स्तर का निर्धारण कर रहे है। ये दो क्षेत्र हैं-परिवार तथा फर्में। अत: समग्र मांग के केवल दो घटक हमारे इस प्रतिमान में होंगे: उपभोग मांग तथा निवेश मांग। इस प्रतिमान में सरकार तथा विदेशी क्षेत्र को सम्मिलित नहीं किया गया है। यहां 'घरेलू' और 'राष्ट्रीय' के बीच अंतर नहीं रहेगा – यहाँ आय उत्पादन के समान होगी- जो स्वयं ही सकल राष्ट्रीय उत्पाद होता है।

उपभोग जमा निवेश विधि द्वारा उत्पादन का निर्धारण

हम उत्पादन निर्धारण के लिए उपभोग जमा निवेश (C + I) विधि का प्रयोग करेंगे। इसे चित्र 6.1 में दर्शाया जा रहा है। इसमें समग्र व्यय और उत्पादन (आय) को एक चित्र में अंकित किया गया है। CC रेखा द्वारा उपभोग वक्र दर्शाया गया है, यह आय के प्रत्येक स्तर पर उपभोग के लिए परिवारों की वांछित मांग है। इसी चित्र में हम वांछित निवेश को भी समाहित कर रहे है। इस का स्तर I_0 पर ही स्थिर रहता है। उपभोग फलन तथा निवेश फलन का योग करने से हमें $C+I_0$ प्राप्त होता है। यही हमारी दो-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था की समग्र मांग है। प्रत्येक बिंदु पर $(C+I_0)$ वक्र उपभोग फलन CC से I_0 के परिमाण जितना ऊँचा रहता है।

अब हम 45^0 रेखा की सहायता लेकर संतुलन बिंदु तक पहुँच सकते हैं। इस रेखा के प्रत्येक बिंदु पर ऊर्ध्व अक्ष पर मापित समग्र व्यय क्षैतिज अक्ष पर दर्शाये गए उत्पादन स्तर के समान होता है (यह इस वक्र की ज्योमितीय विशेषता है- हमारी मान्यता नहीं है)।

अत: अर्थव्यवस्था $C + I_0$ द्वारा मापित समग्र मांग के उत्पादन से समता दर्शाने वाले बिंदु पर ही संतुलन में होगी।

समग्र मांग $(C+I_0)$ वक्र विभिन्न उत्पादन स्तरों पर परिवारों और फर्मों के वांछित $C + I_0$ व्यय को दर्शा रहा है। अर्थव्यवस्था का संतुलन बिंदु E होगा जहां $C + I_0$ वक्र 45^0 रेखा को काट रही है। इस बिंदु E पर अर्थव्यवस्था संतुलन में होती है क्योंकि यहीं पर उपभोग तथा निवेश पर वांछित व्यय का स्तर
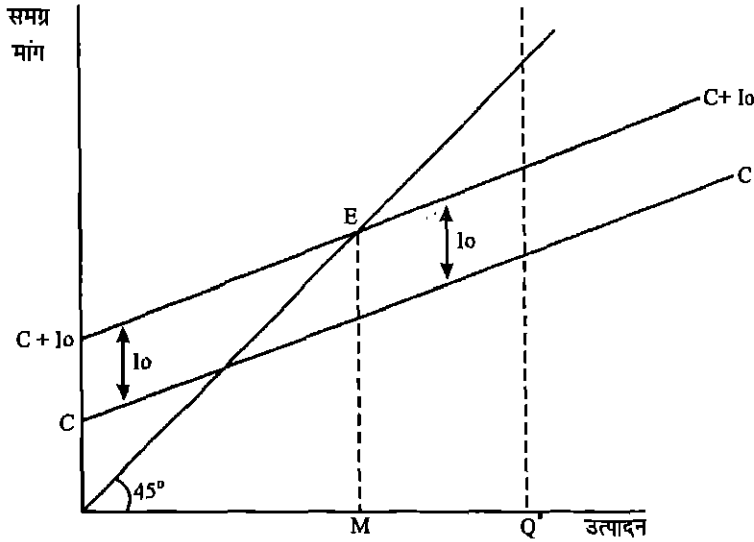
चित्र 6.1: उपभोग जमा निवेश निधि से उत्पादन निर्धारण

समग्र उत्पादन के स्तर के समान होता है। बिंदु E से जुड़ा उत्पादन स्तर M है । इसी लिए M उत्पादन का संतुलन स्तर है।

समंजन की प्रक्रिया

यह तो हम कह ही चुके हैं कि जब व्यय संबंधी योजनाएं उत्पादन योजनाओं से मेल खाती है (अर्थात जहां वांछित समग्र व्यय उत्पादन के वांछित स्तर के समान होता है) वहीं संतुलन होता है। यदि किसी समय व्यय की योजनाएं उत्पादन योजनाओं से मेल नहीं खाती तो फिर उत्पादन में कुछ न कुछ परिवर्तन आवश्यक हो जाते है।

कल्पना करें कि अर्थव्यवस्था में M से अधिक उत्पादन हो रहा है। ऐसे प्रत्येक उत्पादन बिंदु पर $C + I_0$ वक्र 45^0 रेखा से नीचे होता है। इसका अभिप्राय: होगा कि उपभोक्ता और निवेशक मिल कर फर्मो द्वारा उत्पादित सभी वस्तुओं को खरीद नहीं पाते (अर्थात उनकी समग्र मांग उत्पादन से कम है)। इसके परिणामस्वरूप अनायोजित और अवांछित रूप से बिना बिके माल का भण्डार जमा होने लगेगा (ये वह वस्तुएं है जिन्हें न उपभोग के लिए परिवारों ने खरीदा है न ही निवेश के लिए फर्मे जिनकी खरीदार बनी है)। इस प्रकार की भण्डार वृद्धि प्रतिक्रिया स्वरूप फर्मे रोज़गार को कुछ कम कर उत्पादन घटाने को बाध्य हो जायेंगी। उत्पादन में कमी की ये प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि अर्थव्यवस्था फिर से M बिंदु पर नहीं पहुँच जाती। हम जानते ही है कि उस बिंदु पर आयोजित उत्पादन के समान ही समग्र मांग होती है। अत: M पर पहुँच कर किसी फेर बदल की आवश्यकता नहीं रहती।

उत्पादन का स्तर अस्थायी रूप से कम भी हो सकता है। उस दशा में समग्र मांग वक्र 45^0 रेखा से ऊपर होगा- अर्थात उपभोक्ताओं और निवेशकर्ताओं की व्यय योजना उत्पादन से अधिक खरीदारी की होगी। उनकी समग्र मांग उत्पादकों द्वारा प्रायोजित उत्पादन से अधिक होगी। परिणामस्वरूप उत्पादकों, वितरकों,तथा विक्रेताओं के पास उपलब्ध भण्डारों में अप्रायोजित और अवांछित कमी आने लगेगी। भण्डारों में

में अप्रायोजित कमी से उत्साहित होकर फर्में रोज़गार बढ़ाएंगी। इसी के कारण उत्पादन में भी वृद्धि हो जाएगी। उत्पादन वृद्धि की यह प्रक्रिया M बिंदु तक पहुँचने तक चलती रहेगी। वहां पहुँचकर पुनः समग्र मांग का स्तर प्रायोजित उत्पादन के समान हो जाता है और किसी प्रकार के फेरबदल की आवश्यकता नहीं रहती है।

बचत और निवेश फलनों की सहायता से उत्पादन निर्धारण

बचत फलन

चित्र 6.2 में हम एक उपभोग फल और उससे संबंधित बचत फलन दर्शा रहें हैं। यह हमारे पिछले अध्याय के चित्र 5.2 जैसा ही है। आप जानते ही है
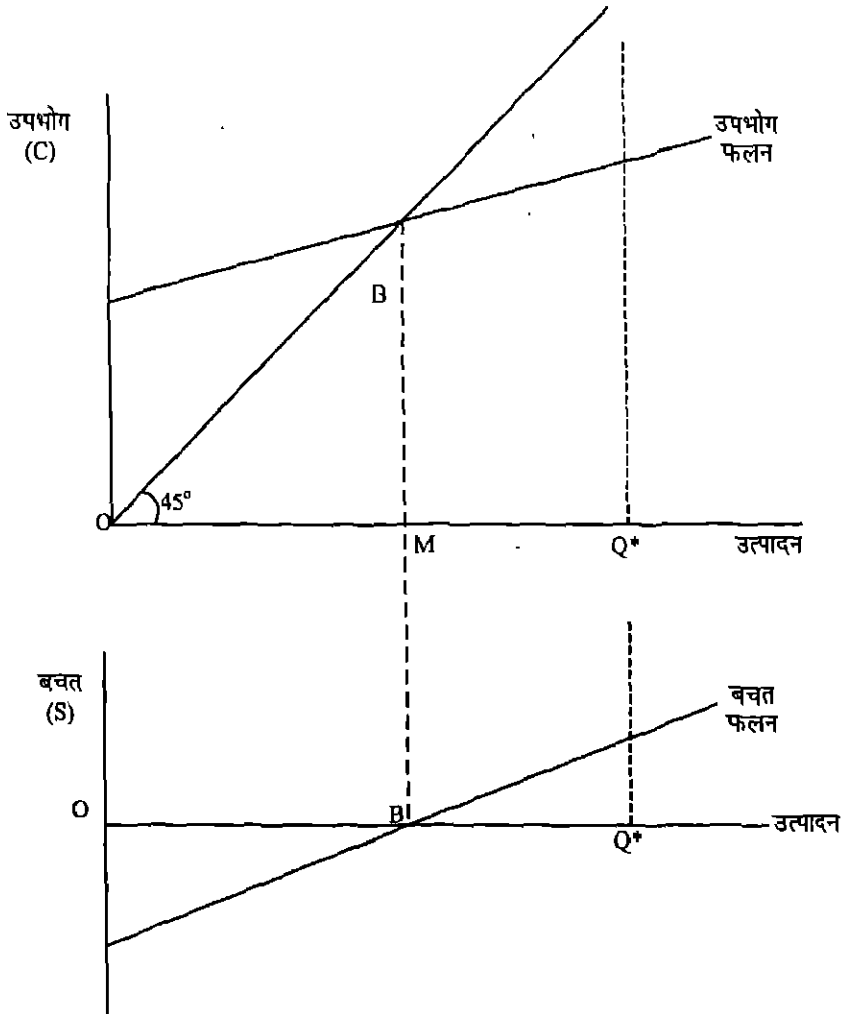
चित्र 6.2: उपभोग फलन तथा तत्संबंधित बचत फलन

कि उपभोग फलन का प्रत्येक बिंदु आय स्तर विशेष पर वांछित या प्रायोजित उपभोग व्यय को दर्शाता है। इसी प्रकार बचत फलन का प्रत्येक बिंदु उन्हीं स्तरों पर बचत की योजनाओं (बचत के वांछित स्तरों) को दर्शाता है।

यह भी हम जानते ही है कि आय सदा ही उपभोग और बचत के योगफल के समान होती है। इसी कारण बचत और उपभोग फलनों में बहुत निकट संबंध होता है- ये परस्पर प्रतिपूरक कहीं जा सकती है। बिंदु Q* हमारा पूर्व परिचित पूर्ण रोज़गार उत्पादन है।

निवेश फलन

हमने पिछले अध्याय में ही यह बात समझ ली थी कि निवेश मांग मुख्यत: ब्याज की दर पर निर्भर रहती है। हमारे इस सरलीकृत प्रतिमान के चित्र में हम ब्याज दरें तो दर्शा नहीं पा रहे है। अत: हम मान लेते है कि हमारे निवेशकों को निवेश व्यय प्रत्येक पर उत्पादन स्तर पर एक समान है। यह निवेश I_0 के समान है। यदि इस प्रकार के निवेश को उत्पादन (= आय) अक्ष के साथ अंकित करें तो हमें चित्र 6.3 जैसा निवेश वक्र मिल जाएगा।

फर्मों की योजना उत्पादन आय के प्रत्येक स्तर पर I_0 निवेश करने की है। इसीलिए निवेश वक्र क्षैतिज अक्ष के समांतर रहता है। ऐसे निवेश वक्र का प्रत्येक बिंदु अक्ष से एक समान ऊँचाई पर होता है। यही ऊँचाई प्रत्येक उत्पादन स्तर पर निवेश मांग का स्तर दिखाती है।

उत्पादन का संतुलन स्तर

अब हम बचत और निवेश की परस्पर क्रिया द्वारा उत्पादन और आय का स्तर निर्धारित कर सकते हैं। यही काम हम चित्र 6.4 की सहायता से करेंगे। इस चित्र में हमने चित्र 6.2 के बचत फलन और 6.3 के निवेश फलन को एक साथ बना दिया है।

स्पष्ट है कि बचत और निवेश फलन E बिंदु पर प्रतिच्छेदन कर रहे है। और इसके अनुरूप उत्पादन स्तर M है जो उत्पादन का संतुलन स्तर है। ध्यान दें कि यह उत्पादन स्तर वही है जो उपभोग जमा निवेश फलन, $C + I_0$ तथा 45^0 रेखा के प्रतिच्छेन द्वारा निर्धारित हुआ था।

इस संतुलन बिंदु में भी स्थायित्व की विशेषता है। यदि उत्पादन स्तर अस्थायी रूप से M से भिन्न हो तो उसमें परिवर्तनों की एक ऐसी शृंखला प्रारंभ हो
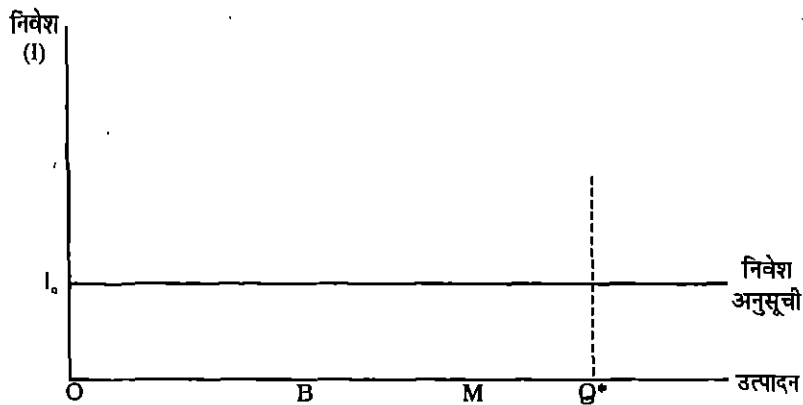
चित्र 6.3: निवेश फलन

जाएगी कि अर्थव्यवस्था पुन: M पर ही वापस पहुँच जाएगी।

संतुलन का अर्थ

बिंदु E पर बचत और निवेश फलन प्रतिच्छेदन कर रहे हैं। इस का अर्थ है कि इससे जुड़े उत्पादन स्तर M पर परिवारों की बचत योजनाएं फर्मो की निवेश योजना से मेल खाती हैं। यदि आयोजित बचतें और निवेश समान नहीं हों तो उत्पादन में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उसी से पुन: संतुलन स्थापित हो पाता है। चित्र 6.4 के बचत और निवेश फलन क्रमश: आयोजित बचत और निवेश दर्शा रहे हैं। केवल उत्पादन स्तर M पर ही फर्मे ME राशि का निवेश करना चाहती है तथा परिवार उतनी राशि की बचत करने के इच्छुक है। किन्तु सामान्यत: वास्तविक बचत (और निवेश) और आयोजित निवेश (और बचत) में इस प्रकार की समानता आवश्यक नहीं होती। इसके अनेक कारण हो सकते है– गल्तियां, पूर्वाकलन की त्रुटियाँ आदि। कहने का अर्थ यही है कि वास्तविक बचत और निवेश का वांछित या आयोजित बचत निवेश के सदैव समान होना आवश्यक नहीं होता।

हम तीन प्रकार की अवस्थाओं में उस संमजन प्रक्रिया की अवस्थाओं में उस संमजन प्रक्रिया को समझने का प्रयास करेंगे जिससे उत्पादन के परिवर्तन बचत योजनाओं और निवेश योजनाओं में समानता ला देते हैं।

पहली अवस्था में अर्थव्यवस्था का उत्पादन स्तर M है। इस उत्पादन पर परिवार उतनी ही बचत करना चाहते हैं जितना निवेश करने का फर्मो का विचार है। परिवारों और फर्मो की योजनाएं सफल रहती हैं। वे संतुष्टि पूर्वक वही काम वैसे ही करते रहेंगे जो अभी तक कर रहे थे। उत्पादन और आय पूर्ववत् अपने स्तर M बने रहेंगे। इस अवस्था का संतुलन अवस्था नाम पूरी तरह से सार्थक रहेगा।

दूसरी अवस्था में उत्पादन स्तर M से अधिक होता है। ऐसे उत्पादन (आय) स्तर पर बचत वक्र निवेश फलन से ऊपर रहता है, अर्थात परिवार अधिक राशियां बचा रहे हैं। दूसरे शब्दों में फर्मे जितना निवेश करना चाहती है, परिवार उससे कहीं अधिक उपभोग से बचाने का प्रयास कर रहे है। परिणामस्वरूप बिना बिके हुए माल के भण्डार (प्रत्येक स्तर पर) जमा होने लगेंगे। परिणामस्वरूप वास्तविक निवेश का
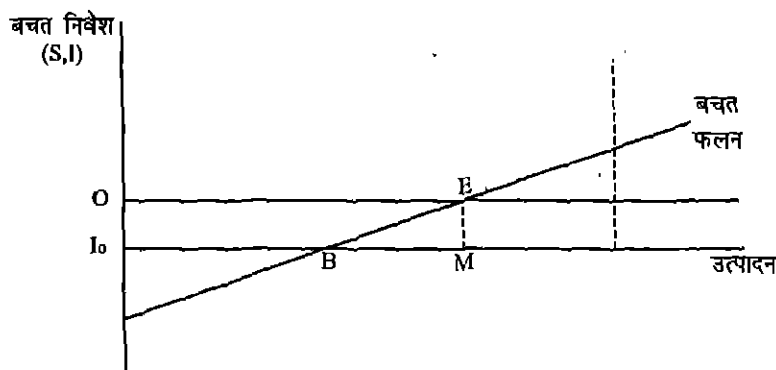
चित्र 6.4: बचत और निवेश फलनों द्वारा उत्पादन स्तर का निर्धारण

स्तर प्रायोजित निवेश से अधिक हो जाएगा।[1] फर्मों ने जो योजनाएं बनाई थीं, वे पूरी नहीं हो पायी। अत: वे इस स्थिति पर नियंत्रण करने का कुछ उपाय अवश्य करेंगी। वह उपाय है संसाधनों का कम प्रयोग- अर्थात रोज़गार में कमी की जाएगी। उससे उत्पादन और आय में भी कटौती होगी। आय की कमी के कारण बचत कम होगी। यह प्रक्रिया (रोज़गार-उत्पादन-आय में कटौती) तब तक चलती रहेगी जब तक कि अर्थव्यवस्था में बचत और निवेश की समानता पुन: स्थापित नहीं हो जाती। यह बिंदु M पर ही होगी जहां प्रायोजित बचत प्रायोजित निवेश के समान होगी। यह वास्तविक निवेश भी होगा। यहां से विचलित होने का कोई कारण नहीं बचता।

तीसरी अवस्था में उत्पादन M से कम होता है। उससे संबंधित (कम) आय स्तर पर परिवारों का बचत फलन निवेश फलन से नीचे रह जाता है। अर्थात परिवार जितनी राशि बचाना चाहते है वह फर्मों के प्रायोजित निवेश के लिए पर्याप्त नहीं रहती। एक प्रकार से जितनी सामग्री फर्में निवेश में प्रयोग करना चाहती है, परिवार अपने उपभोग से उतनी सामग्री छोड़ना नहीं चाहते। इसका सीधा प्रभाव भण्डारों पर पड़ेगा। हर स्तर पर उपलब्ध भण्डारों में अप्रायोजित और अवांछित कमी होने लगेगी। वास्तविक निवेश प्रायोजित निवेश से कम रह जाएगा। फर्मों की योजनाएं सफल नहीं रहतीं, उन्हें बाध्य होकर कुछ नए कदम उठाने पड़ते है। भण्डार को वांछित स्तर पर बनाए रखने के लिए फर्में और संसाधनों को काम पर लगाकर (रोज़गार बढ़ा कर) अधिक उत्पादन करने लगेंगी। इससे समाज में आय का स्तर भी बढ़ेगा- जिसके प्रभाव स्वरूप प्रायोजित बचतों में वृद्धि का क्रम आरंभ हो जाएगा। इस प्रकार अर्थव्यवस्था अं M बिंदु पर वापस लौट आएगी, जहां, प्रायोजित ब प्रायोजित निवेश के, और प्रायोजित निवेश वास्तवि निवेश के सामान होता है। इसके बाद और फेरब की कोई प्रेरणा नहीं बचती।

तीनों अवस्थाओं में एक ही निष्कर्ष निकलता संतुलनकारी उत्पादन स्तर M ही है। यहीं पर प्रायोि बचत और प्रायोजित निवेश समान होते हैं। किसी अन्य उत्पादन स्तर पर प्रायोजित बचतों और निवेश अंतर आ जाते हैं। उन अंतरों के कारण फर्मों संसाधनों का प्रयोग (रोज़गार) और (उसके माध्य से) उत्पादन स्तर में परिवर्तन करने पड़ते हैं त अर्थव्यवस्था पुन: संतुलनकारी उत्पादन और रोज़ग स्तर पर वापस पहुँच पाती है।

बचत और निवेश की प्रायोजित एवं वास्तवि राशियाँ

अभी तक हम अनेक बार 'प्रायोजित', 'वांछित' अ वास्तविक शब्दों का उपभोग, निवेश तथा उत्पादन साथ प्रयोग कर चुके है। आइए, इनके अर्थों को स ढंग से समझने का प्रयास भी करें। वास्तव में उपभ फलन द्वारा बताए गए वांछित या प्रायोजित उपभोग त वास्तविक उपभोग में कुछ अंतर होता है। इसी प्रक निवेश फलन द्वारा इंगित निवेश और अंत में जित निवेश वस्तुत: हो पाता है उनमें भी अंतर रहता है।

ये भेद ही संतुलन उत्पादन स्तर की ए विशेषता पर पुन: आग्रह करते है, कि जिस समय फ अपने निवेश फलन तथा परिवार अपने उपभोग फल पर व्यय कर रहे होते हैं- (अर्थात जब उन वास्तविक निवेश और उपभोग उनके वांछित निवे

[1] आपको ध्यान होगा, हमने पिछले अध्यायों में व्यावसायिक निवेश में भण्डार वृद्धि को अप्रायोजित निवेश माना था। किंतु यह भी सकल निवे का घटक तो होता ही है।

और उपभोग के समान होते है) उसी समय उत्पादन अपने संतुलन स्तर पर हो पाता है। इस दशा में राष्ट्रीय आय लेखा हमें यह बता देता है कि बचत निश्चित रूप से निवेश के समान होगी। (इस दो-क्षेत्रीय प्रतिमान के संदर्भ में तो यह बात स्पष्ट ही होती है)। इसका कारण है:

$$C + S \equiv Y \equiv C + I$$

अत: $Y \equiv C + I$

और $Y \equiv C + S$

अत: $C + S \equiv C + I$ = अर्थात $S = I$

किंतु जब वास्तविक बिक्री स्तर फर्म द्वारा सोचे गए (प्रायोजित) बिक्री स्तर से भिन्न हो तो फर्म को अनचाहे भण्डार संग्रह या ह्रास का सामना करना पड़ जाता है। इस संभावना से मुक्ति तभी मिलती है जब उत्पादन उतना ही हो जिस पर समग्र मांग फर्मों द्वारा प्रायोजित उत्पादन के एकदम समान हो। केवल उसी स्थिति में उत्पादन, आय तथा रोज़गार के स्तरों में फेरबदल की आवश्यकता से बच पाना संभव होता है।

एक उदाहरण

आइए कुछ आंकड़ो की सहायता से एक उदाहरण की रचना द्वारा इस प्रक्रिया को समझने का प्रयास करें। हम तालिका 6.1 में एक उपभोग फलन और तत्संबंधी बचत फलन का प्रयोग कर रहे है। उपभोग फलन है:

$$C = 1000 + 0.67Y$$

तत्संबंधी बचत फलन है:

$$S = (-)1000 + 0.33Y$$

स्तंभ (2) में आय के विभिन्न स्तरों से जुड़े उपभोग दर्शाए गए हैं। ये आंकडे उपभोग फलन का प्रयोग कर तैयार किए गए है। स्तंभ (3) में दर्शाए गए बचत के आंकड़े भी आय के उन्हीं स्तरों में जुड़े है। इन्हें हमारे उपर्युक्त बचत फलन के आधार पर तैयार किया है। (ध्यान दें कि ये बचत आय- उपभोग के समान भी है) स्तंभ (4) में फर्मो की निवेश मांग दर्शायी गई है। स्तंभ (5) में तो पहले स्तंभ की जानकारी को ही दोहराया गया हैं आय के विभिन्न स्तरों से जुड़े समग्र मांग स्तर को स्तंभ (6) में दर्शायी गया है। यह वास्तव में स्तंभ (2) तथा (4) का

तालिका 6.1 : उत्पादन स्तर का निर्धारण (सभी आंकडे करोड़ रूपयों में)

उपभोग और आय	प्रायोजित उपभोग	प्रायोजित बचत (3) = (1) – (2)	प्रायोजित निवेश	उत्पादन और आय (5) = (1)	समग्र मांग (6) = (2) + (4)	उत्पादन में प्रवृत्ति
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)	(7)
4200	3800	400	200	4200 >	4000	कमी
3900	3600	300	200	3900 >	3800	कमी
3600	3400	200	200	3600 =	3600	संतुलन
3300	3200	100	200	3300 <	3400	वृद्धि
3000	3000	00	200	3000 <	3200	वृद्धि
2700	2800	(-)100	200	2700 <	3000	वृद्धि

योगफल ही है(अर्थात उपभोग मांग और निवेश मांग का योग)। इसी से हम जान जाते है कि फर्मे वास्तव में कितना माल बेच पाती है।

आय का वह स्तर जहां सारी (तात्कालिक) आय उपभोग में ही प्रयुक्त हो जाती है, जहां बचत शून्य रहती है, आय का समकारी स्तर कहलाता है। हमारे इस उदाहरण में यह समकारी आय स्तर 3600 करोड़ रूपये है।

आय में 300 करोड़ रूपये के प्रत्येक परिवर्तन के परिणाम स्वरूप उपभोग में 200 करोड़ तथा बचत में 100 करोड़ रूपये का परिवर्तन आ जाता है। यहां $MPC = 2/3$ तथा $MPS = 1/3$ । इनके मान स्थिर रहते है। (हमारे उपभोग और बचत फलन सरल रेखीय हैं जिनके ढाल स्थिर होते हैं)।

यहां निवेश बाह्य रूप से निर्धारित अथवा स्वप्रेरित माना गया है (आय के परिवर्तन का निवेश स्तर पर कोई प्रभाव नहीं होता) आय के प्रत्येक स्तर पर फर्मे 200 करोड़ रूपये का निवेश करना चाहती है। यही बात स्तंभ (4) में दर्शायी गई है।

तालिका 6.1 की पहली पंक्ति पर विचार करें: फर्मे 4200 करोड़ रूपये मूल्य का उत्पादन कर रही है, किंतु उस उत्पादन पर समग्र व्यय केवल 4000 करोड़ रूपये के समान है। निश्चित रूप से इस अवस्था में भण्डार में अप्रयोजित वृद्धि होगी (4200-4000=200 करोड़ रूपये)। फर्में इस स्थिति का सामना करने के लिए अपनी गतिविधियों को सीमित करेंगी और परिणाम स्वरूप उत्पादन कम हो जाएगा।

तालिका 6.1 की अंतिम पंक्ति इसके एकदम विपरीत स्थिति दर्शा रही है। फर्मों का कुल उत्पादन 2700 करोड़ रूपये का है। किंतु समग्र मांग 3000 करोड़ रूपये के माल की हो रही है। यहां भण्डार में 3000-2700 =300 करोड़ रुपये की अनचाही कमी हो रही है। इस भण्डार स्तर की कमी से उत्साहित होकर फर्मे अपनी गतिविधियों का प्रसार करेंगी- और इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि होने लगेगी।

अत: जब भी फर्मे (अस्थायी रूप से) अपना पूरा उत्पादन बेच नहीं पाती तो उन्हें अपनी गतिविधियाँ संकुचित करनी पड़ती है। इससे उत्पादन घट जाता है। जब भी बिक्री उत्पादन के वर्तमान स्तर से अधिक हो रही हो फर्मों को अपना काम फैलाने का अवसर मिलता है- अर्थात वे उत्पादन बढ़ा देती है।

संतुलन उसी समय होता है जब स्तंभ (5) का उत्पादन स्तर स्तंभ (6) के समग्र मांग के स्तर के समान हो। उस समय फर्मों की बिक्री उनके वर्तमान उत्पादन स्तर को सही ठहराने के लिए पर्याप्त होती है। अत: समग्र उत्पादन में न संकुचन होगा न ही प्रसार- वह संतुलन में रहेगा। हमारे इस उदाहरण में उत्पादन का ऐसा संतुलन स्तर 3600 करोड़ रूपये है।

गुणक

निवेश व्यय में परिवर्तन पूंजी के स्तर में परिवर्तन द्वारा उत्पादन और रोजगार को प्रभावित करता है। यह तर्क संगत भी है। यदि स्थिर व्यावसायिक पूंजी बढ़ती है तो रोज़गार की क्षमता बढ़ेगी, उससे उत्पादन क्षमता का प्रसार भी होगा। इसी प्रकार पूंजी में कमी से रोज़गार के अवसर तथा उत्पादन में कमी आएगी।

गुणक की प्रक्रिया यह सुनिश्चित कर देती है कि निवेश परिवर्तन का उत्पादन स्तर पर प्रभाव बहुगुणित होकर पड़े। अर्थात निवेश में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन का परिवर्तन निवेश के ही कई गुना होता है।

गुणक वह संख्या है जिससे निवेश परिवर्तन को गुना कर हम उत्पादन का परिवर्तन जान सकते है।

उदाहरण के लिए यदि निवेश में 100 करोड़ रूपये की वृद्धि से उत्पादन में 300 करोड़ की वृद्धि हो रही हो तो गुणक का मान 3 होगा। यदि यह उत्पादन वृद्धि 400 करोड़ होती तो गुणक का मान 4 होता।

गुणक का मान निर्धारण करने का गणित इस प्रकार है:

संतुलन की दशा में

$Y = C + I$

(आय उपभोग और निवेश के योग के समान होती है)

इस समीकरण में C के स्थान पर उपभोग फलन का प्रयोग करें:

$$Y = \overline{C} + bY + I$$
$$(\because C = \overline{C} + bY)$$

अथवा $Y - bY = \overline{C} + I$

या $Y(1 - b) = \overline{C} + I$

अत: $Y = (1/1 - b)(\overline{C} + I$

किंतु $b = MPC$

अत: $Y = 1/MPC(\overline{C} + I)$

निवेश परिवर्तन का प्रभाव जानने के लिए हम इस समीकरण का I के अनुरूप अवकलन करते हैं:

$$\Delta Y = \frac{1}{(1 - MPC)} \Delta I$$

अत: (उत्पादन में परिवर्तन) = (गुणक) × (निवेश में परिवर्तन)

गुणक का मान $1/1 - MPC$ के समान रहता है। यही वह संख्या है जिससे निवेश को गुणा कर हम (निवेश के कारण) उत्पादन अथवा आय में होने वाले परिवर्तन का मान जान पाते है।

यह भी हमारे उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो ही गया कि गुणक का आकार MPC के मान पर निर्भर रहता है।

हम जानते हैं कि $0 < MPC < 1$। अत: गुणक सदैव 1 से अधिक होगा। इसी कारण निवेश से उत्पादन में बहुगुणित परिवर्तन होगा।

गुणक का वास्तविक आकार MPC के मान पर निर्भर करेगा।

यदि $MPC = 2/3$ तो गुणक = 3 होगा। यदि $MPC = 4/5$ तो गुणक = 5 हो जाएगा।

हम एक उदाहरण का प्रयोग कर गुणक की कार्य विधि को और अधिक स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। मान लो कि $MPC = 4/5$ तथा निवेश में 1000 रू. वृद्धि होती है; यह निवेश किसी नए भवन के निर्माण में होता है। परिणामत: निर्माणकर्ता, शिल्पकार तथा श्रमिकों की आय में 1000 रूपये की वृद्धि हो जाएगी। $MPC = 4/5$, तो वे सब (मिलकर) 800 रूपये ($1000 \times 4/5 = 800$) का अतिरिक्त खर्च उपभोग की वस्तुओं पर करने लगेंगे। इससे उनके उत्पादन कार्य में लगे हुए लोगों की आय में 800 रूपये की वृद्धि होगी। उनकी MPC भी 4/5 है। अत: आय वृद्धि से प्रोत्साहित होकर वे भी इसका 4/5 भाग = $800 \times 4/5 = 640$ रुपये का अधिक उपभोग करने लगेंगे। यह $4/5 \times 4/5 \times 1000$ ही है। इससे कुछ अन्य लोगों की आय में 640 रूपये की वृद्धि होगी और वे भी इसके 4/5 भाग के समान उपभोग बढ़ा देंगे। इस प्रकार प्रत्येक चरण में पूर्ववर्ती के 4/5 अंश के समान व्यय वृद्धि होती रहेगी– ये सभी वृद्धियां अगले चरण के लिए आय वृद्धि का रूप धारण करती रहती हैं।

इस प्रकार 1000 रूपये का प्रारंभिक निवेश उपभोग में उत्तरोत्तर वृद्धि की एक अंतहीन प्रक्रिया को प्रारंभ कर देता है। किंतु उत्तरोत्तर वृद्धि की यह प्रक्रिया अंतहीन होते हुए भी निरंतर ह्रास मान होती है। इसी कारण यह सारा उपभोग व्यय अंतत: किसी एक निश्चित संख्या पर ही अभिसरित हो जाएगा।

हम निवेश तथा उसके कारण उपभोग वृद्धि तथा उनके प्रभाव से आय में वृद्धि का आकलन इस प्रकार कर सकते है:

रुपये	रुपये
1000	1×1000
+	+
800	$4/5 \times 1000$
+	+
640	$(4/5)^2 \times 1000$
+	+
512	$(4/5)^3 \times 1000$
+	+
409.6	$(4/5)^4 \times 1000$
+	+
:	:
5000	$(1/(1-4/5) \times 1000$ गुणक

यह तो हम जानते ही हैं कि उपभोग में यह उत्तरोत्तर वृद्धि अंतहीन किंतु ह्रासमान होती रहती है। इसी कारण यह किसी निश्चित संख्या की ओर अभिसरण करती है।

हम एक अभिसारी अनंत ज्योमितिक शृंखला के योग सूत्र का प्रयोग कर व्यय की कुल वृद्धि का आकलन कर सकते हैं। व्यय और आय में कुल वृद्धियों का योग इस प्रकार होगा:

ΔY = 1 × 1000 रु. + (4/5) × 1000 रु. + (4/5)2 × 1000 रु. + (4/5)3 × 1000 रु. + ...

अर्थात

ΔY = 1000 रु. + [1 + (4/5) + (4/5)2 + (4/5)3 +...]

वर्गीय कोष्ठक का पद एक अंतहीन ज्योमितिक शृंखला है। इसकी प्रथम संख्या 1 है तथा स्थिर गुणांक 'r' का मान 4/5 है।

ऐसी ज्योमितिक शृंखला के योग का सूत्र है: 1/1–r । हमारे वर्तमान उदाहरण में r = 4/5 । अत: ज्योमितिक शृंखला का योग होगा:

1/[1–(4/5)] = 5

अत: कोष्ठक के पद के स्थान पर 5 रख कर

ΔY = 1000 × 5
= 5000

स्पष्ट है कि MPC = 4/5 तो गुणक का मान = 5

हम गुणक को MPS के आधार पर भी अभिव्यक्त कर सकते है:

गुणक = 1/1–MPC

किंतु MPC = 1–MPS

अत: गुणक = 1/1– (1–MPS) = 1/MPS

दूसरे शब्दों में यदि MPS = 1/x तो गुणक होगा x ।

हमारे उदाहरण में MPS = 1/5 । निवेश में 1000 करोड़ रूपये की वृद्धि हुई। अब बचत में इतनी वृद्धि होनी चाहिए कि वह भी निवेश के नए स्तर के समान हो जाए, तभी उत्पादन संतुलित हो पाएगा। बचत में वृद्धि तभी होगी जब आय में वृद्धि हो। अत: MPS = 1/5 होने की दशा में निवेश में 1000 करोड़ रूपये की वृद्धि के कारण आय में 5000 करोड़ रूपये की वृद्धि अनिवार्यत: होनी चाहिए तभी इस नए निवेश के समतुल्य बचत की वृद्धि हो पायेगी। अत: संतुलन में आवश्यक है कि *1000 करोड़ की निवेश वृद्धि आय में अंतत: 5000* करोड़ की वृद्धि का सृजन कर दे। यही हमारे गुणक के गणित के अनुरूप होगा।

मांग के बाहुल्य और अभाव की समस्याएं तथा उनका निवारण

अभी तक हम केंजीय विश्लेषण पद्धति के अनुसार उत्पादन, आय और रोज़गार के निर्धारण पर चर्चा कर रहे थे। यहां उत्पादन, आय और रोज़गार के संतुलन स्तरों का निर्धारण केवल समग्र मांग द्वारा

ही हो जाता है। यदि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोज़गार पर समग्र उत्पादन जितनी समग्र माँग विद्‌यमान हो तो पूर्ण रोज़गार संतुलन की प्राप्ति हो जाती है। यदि समग्र मांग का स्तर पूर्ण रोज़गार उत्पादन से कम हो तो उस अवस्था को *मांग के अभाव* की स्थिति कहते हैं। इसके विपरीत यदि समग्र मांग पूर्ण रोज़गार स्तरीय उत्पादन से अधिक हो तो उसे *मांग का आधिक्य* कहा जाता है। हम इन अभाव और आधिक्य की समस्याओं और उनके निराकरण के उपायों पर पृथक पृथक विचार कर रहे है।

मांग के अभाव की समस्या

यदि अर्थव्यवस्था में समग्र मांग का स्तर पूर्ण रोज़गार के उत्पादन से कम हो तो उसे मांग के अभाव की स्थिति का नाम दिया जाता है। इस मांग अभाव के कारण ही *अवस्फीति अंतराल* का जन्म होता है। यह अंतराल अर्थव्यवस्था में आय, उत्पादन और रोज़गार को घटा कर उसे अपूर्ण रोज़गार संतुलन में धकेल देता है। चित्र 6.5 इसी मांग-अभाव की दशा को दर्शा रहा है।

Y-अक्ष पर हम उपभोग मांग, निवेश मांग तथा उनके योगफल–समग्र मांग को दर्शा रहे हैं। X-अक्ष पर उत्पादन और आय का मापन हुआ है। OQ^* को पूर्ण रोज़गार उत्पादन कहते है।

$(C + I)_0$ और $(C + I)_1$ द्‌वारा दो समांतर समग्र मांग वक्र दर्शाए गए हैं। इनमें केवल निवेश के स्तर के कारण ही अंतर विद्‌यमान है। $(C + I)_1$ अधिक निवेश को दिखाने वाला समग्र मांग वक्र है।

अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोज़गार होने के लिए समग्र मांग भी OQ^* के समान होनी चाहिए। अर्थात समग्र मांग का स्तर Q^*F जितना होना चाहिए। उसी समय $(C + I)_1$ समग्र मांग के अनुरूप F बिंदु पर संतुलन पाकर अर्थव्यवस्था उत्पादन को OQ^* स्तर बनाए रख पाने में सफल होगी।

मान लो कि वास्तव में समग्र मांग केवल $Q^*G < Q^*F$ उत्पादन के लिए ही है। यह मांग उत्पादन को पूर्ण रोज़गार स्तर पर बनाए रखने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। यह तो समग्र मांग वक्र $(C + I_0)$ के समान है। यह मांग के अभाव की स्थिति होगी। यहां अभाव का मान FG अंतर द्‌वारा मापा जा सकता है। इसी को अवस्फीति अंतराल भी कहते है।
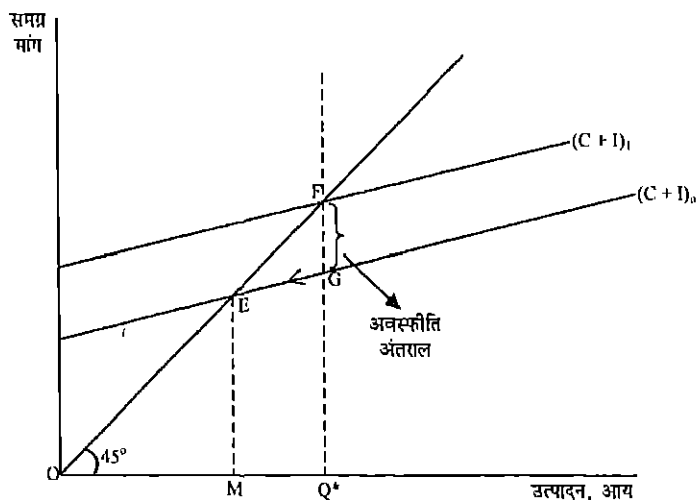
चित्र 6.5: मांग का अभाव : अवस्फीति अंतराल

अतः अवस्फीति अंतराल उत्पादन को पूर्ण रोज़गार संतुलन पर बनाए रखने के लिए अनिवार्य समग्र मांग तथा वास्तविक समग्र मांग का अंतर होता है। यह मांग के अभाव का माप भी होता है।

इसे अवस्फीति अंतराल कहने का कुछ कारण है। इस अंतर के कारण अर्थव्यवस्था में उत्पादन, आय और रोज़गार में कमी की एक प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। आप देख ही सकते है कि G बिंदु पर समग्र मांग $(C + I_0)$ 45° रेखा से नीचे है, अर्थात Q*G का स्तर OQ* से कम है। अतः व्यवसायियों के पास आवांछित रूप से बिना बिके माल का भण्डार जमा होने लगेगा। प्रतिक्रिया स्वरूप वे रोज़गार घटा कर उत्पादन कम करने का प्रयास करेंगे। परिणामतः अर्थव्यवस्था में आय का स्तर कम होने लगेगा। अंततः नया संतुलन E बिंदु पर (समग्र मांग $(F + I)_0$ और 45° रेखा के प्रतिच्छेदन द्वारा) निर्धारित हो जाएगा। यहां समग्र मांग EM उत्पादन OM के समान होगी I इसीलिए इसे संतुलन बिंदु कहते हैं।

आप यह भी समझ ही सकते हैं कि E बिंदु पर हम अपूर्ण रोज़गार संतुलन में होंगे क्योंकि यहां उत्पादन, आय और रोज़गार का स्तर F बिंदु के पूर्ण रोज़गार स्तर से कम होता है। अतः मांग के अभाव द्वारा सृजित अवस्फीति अंतराल ने अर्थव्यवस्था को अपूर्ण रोज़गार संतुलन में धकेल दिया है।

मांग अधिक्य की समस्या

यदि समग्र मांग का स्तर पूर्ण रोज़गार के उत्पादन से भी अधिक हो जाए तो अर्थव्यवस्था में मांग आधिक्य पैदा हो जाता है। मांग आधिक्य से एक स्फीति–अंतराल का सृजन होता है, जिसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था की कीमत स्तर की वृद्धि (*स्फीति*) पैदा हो जाती है। यदि स्थिति हम चित्र 6.6 में दर्शा रहे हैं–

यहां भी Y–अक्ष पर समग्र मांग और उसके घटक, उपभोग, तथा निवेश, दर्शाए गए हैं। X–अक्ष पर उत्पादन है। OQ* पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर है। $(C+I)_0$ तथा $(C+I)_1$ दो समग्र मांग वक्र है, जिनमें केवल निवेश के स्तर का ही अंतर है। मान लेते हैं कि आरंभ में अर्थव्यवस्था F–बिंदु पर पूर्ण रोज़गार संतुलन में है। उसकी समग्र मांग $(C+I)_0$ – है और वह OQ* स्तर पर उत्पादन कर रही है।
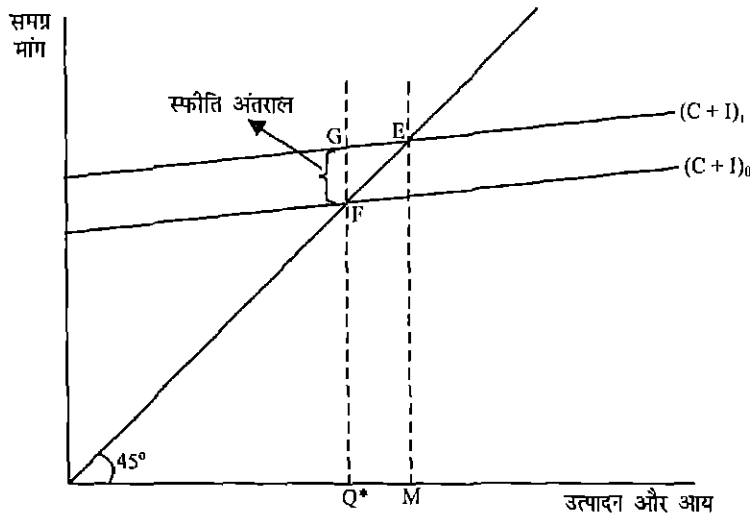
चित्र 6.6: मांग का आधिक्य : स्फीति अंतराल

उत्पादन-आय अक्ष के विषय में एक बात को ध्यान में रखें : इस अक्ष पर उत्पादन तथा आय का मौद्रिक मान ही दर्शाया जा रहा है। केंज के आपूर्ति वक्र के आकार की विशेषता है कि यह पूर्ण रोज़गार स्तर पाने तक तो पूरी तरह से कीमतों के प्रतिलोचशील होता है पर उस स्तर पर उत्पादन के पहुंचते ही उनकी लोचशीलता पूरी तरह से लोच हीनता में बदल जाती हैं। (हमने केंद्रीय आपूर्ति वक्र को एक बार फिर चित्र 6.7 में दोहराया है।)

इस विलक्षणता के उत्पादन-आय वक्र के विश्लेषण पर ये प्रभाव होते हैं ; Q* बिंदु तक तो मौद्रिक आय और उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ वास्तविक उत्पादन और आय में भी वृद्धि होती है (कीमतें स्थिर रहती हैं)। किंतु Q* बिंदु से आगे दाहिनी ओर बढ़ने पर मौद्रिक और वास्तविक आय में उत्पादन के साथ-साथ) बढ़ने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। इसका कारण यही है कि Q* से आगे वास्तविक उत्पादन तो बढ़ाया ही नहीं जा सकता, सभी संसाधन Q* तक पहुंचते ही पूरी तरह से काम पर लग चुके हैं। अब आय तथा उत्पादन के मौद्रिक मान में वृद्धि केवल कीमतों की वृद्धि का परिणाम रहती है।

हम मान लेते हैं कि समग्र मांग Q*G के समान है, यह पूर्ण रोज़गार उत्पादन Q*F से अधिक है। मांग का स्तर समग्र मांग वक्र $(C+I)_1$ के अनुरूप है। यह स्पष्ट ही मांग-आधिक्य की स्थिति है। मांग आधिक्य द्वारा सृजित स्फीति अंतराल को चित्र 6.6 में FG द्वारा दर्शाया गया है।

अत: स्फीतिकारी अंतराल वास्तविक समग्र मांग और पूर्ण रोज़गार को बनाए रखने के लिए आवश्यक समग्र मांग के बीच का अंतर होता है। यह स्फीति अंतराल मांग आधिक्य का माप भी होता है।

इस अंतराल को स्फीतिकारी इसीलिए कहते हैं कि इसके कारण से अर्थव्यवस्था में कीमत वृद्धि की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। बिंदु G पर समग्र मांग 45^0 रेखा से ऊपर है, मांग का स्तर Q*G उत्पादन OQ* से अधिक है। यह अर्थव्यवस्था में मांग जनित स्फीति (समग्र मांग की अधिकता के कारण कीमत वृद्धि) को जन्म देता है। यह कीमत वृद्धि वास्तविक उत्पादन के स्थिर रहते हुए भी मौद्रिक आय-उत्पादन में 'वृद्धि' दर्शा कर E बिंदु पर नए 'संतुलन' की रचना कर देती है। वहां पर मौद्रिक समग्र मांग ME होती है और वह मौद्रिक उत्पादन OM के समान होती है (ध्यान रहे कि E 45^0 रेखा पर स्थित है)।
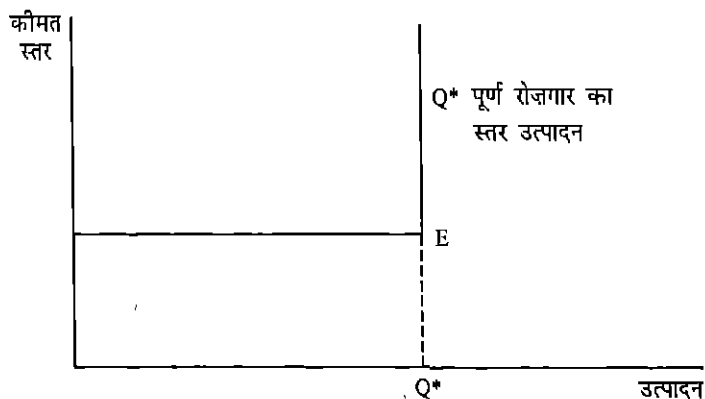
चित्र 6.7: केंजीय समग्र आपूर्ति वक्र

एक बात पर गौर करें: E बिंदु पर भी वास्तविक उत्पाद और आय का स्तर तो F बिंदु वाला ही है, साथ ही रोज़गार भी अभी अपने पुराने पूर्ण रोज़गार स्तर पर ही है। केवल कीमत वृद्धि के कारण इस वास्तविक उत्पादन और आय के मौद्रिक मान बढ़े-चढ़े दिखाई देने लगे हैं। अतः मांग के आधिक्य ने स्फीतिकारी अंतराल का सृजन किया, जिसके परिणाम स्वरूप स्फीति-अर्थात कीमत वृद्धि पैदा हो गई। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था अभी भी पूर्ववत् अपने पुराने पूर्ण रोज़गार स्तर पर ही कार्य कर रही है हां कीमतें अवश्य पहले से अधिक हो गई हैं।

राजकीय क्षेत्र

मांग के अभाव और आधिक्य की समस्याओं के समाधान से पूर्व हमें राजकीय क्षेत्र को अर्थव्यवस्था के इस प्रतिमान में समाहित करना पड़ेगा। फिर तो हमारी अर्थव्यवस्था दो-क्षेत्रकीय न रहकर तीन-क्षेत्रकीय हो जाएगी। ये क्षेत्र होंगे: परिवार, फर्में और सरकार। हम यह तो जानते ही हैं कि सरकार की राजकोषीय नीतियों (सरकारी व्यय और कराधान) के आर्थिक गतिविधियों पर गंभीर प्रभाव होते हैं। विशेषकर उत्पादन, आय और रोज़गार तो इनसे अप्रभावित रह ही नहीं पाते। वास्तव में इसी जानकारी को आधार बना कर केंजीय विश्लेषण में राजकोषीय नीतियों के माध्यम से मांग आधिक्य और अभाव के प्रबंधन की नीतियां सुझाई गयीं हैं।

विश्लेषण को सरल रखने की दृष्टि से ही हम यह मान रहे हैं कि सरकार द्वारा कर संग्रह तो स्थिर रहता है- पर वह अपने व्यय में फिर भी परिवर्तन कर सकती है।[2] कर लगने के पश्चात तो उपभोग आय का फलन नहीं रहता, यह निर्वर्त्य आय का फलन हो जाता है।[3] किन्तु विश्लेषण को अति सरल रखने के लिए हम शून्य विदेशी व्यापार, अन्तरण और मूल्य ह्रास की कल्पना कर, मान लेते हैं कि हमारा उत्पादन निर्वर्त्य आय और करों के योग के समान है। कर राजस्व का स्तर भी हम स्थिर मान रहे है। अत: उत्पादन और निर्वर्त्य आय का अंतर भी सदैव स्थिर कर राजस्व ही होगा। इस प्रकार करों को आकलन में समहित कर हम अब भी उपभोग फलन को निर्वर्त्य आय के स्थान पर उत्पादन अक्ष के आधार पर ही अंकित कर सकते है।

हमारा नया उपभोग फलन पुराने से नीचे, पर समांतर रहते हुए अंकित किया जा सकता है। इसका एक ही औचित्य होगा: कर स्थिर हैं, अत: प्रत्येक स्तर पर आय में से कर घटाकर निर्वर्त्य आय का आकलन हो जाता है। इस प्रकार समान रूप से निर्वर्त्य आय में कटौती के कारण उपभोग में कटौती भी समान रूप से ही होती है। यह उपयोग की कटौती आय में कमी गुना MPC के समान ही होगी। (क्योंकि MPC आय परिवर्तन के कारण उपभोग परिवर्तन का माप है)। अत: यदि आय में करों के कारण कमी होती है तो उपभोग भी कर गुना MPC कम हो जाएगा।

नये उपभोग फलन का बीजगणितीय स्वरूप होगा:

$C^1 = \overline{C} + b(Y - T)$ यहां T स्थिर कर है

$C^1 = \overline{C} + bY - bT$

$C^1 = C - bT$ यहां C पुराना उपभोग फलन है

अत: $C - C^1 = bT$

---

[2] आय आदि आर्थिक 'चरों' के साथ जिन करों में परिवर्तन नहीं आता उन्हें एक मुश्त कर भी कहा जाता है।

[3] निर्वर्त्य आय = आय - कर
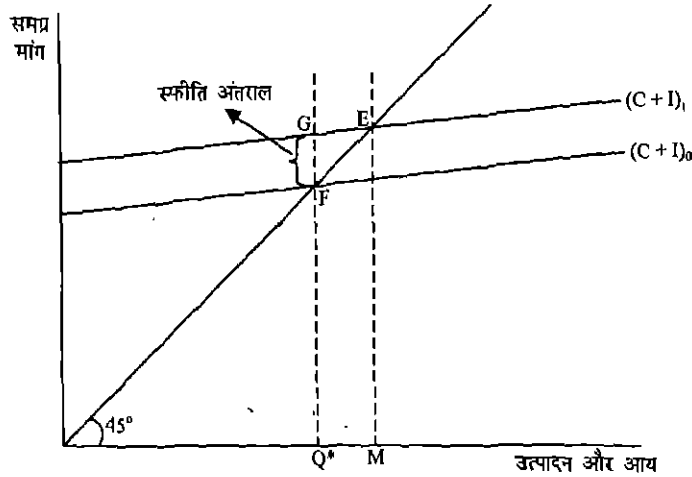
चित्र 6.8: स्थिर कर और उपभोग फलन

इस समीकरण की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है:

नया उपभोग फलन पुराने से प्रत्येक बिंदु पर MPC गुना आय की कमी (कर की राशि T) के समान अंतर पर (नीचे) रहता है। इसका कारण यही है कि b तथा T दोनों का मान स्थिर है, अत: इनका गुणनफल भी स्थिर होगा। इसीलिए नया उपभोग फलन पुराने के समांतर, पर नीचे स्थित होता है। दोनों के बीच का अंतर bT के समान होता है।

हम यही बात चित्र 6.8 में दर्शा रहे हैं। यहां C पुराना उपभोग फलन है और C' द्वारा नया उपयोग फलन दर्शाया गया है (जब कि कर लगाया जा चुका है)।

ये तो कर के प्रभाव की बात रही। अब आइए, समग्र आय पर सरकारी व्यय का प्रभाव समझने का प्रयास करें। हमने पिछले अध्यायों में त्रि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में समग्र मांग को परिवारों के उपभोग, फर्मों के निवेश तथा सरकारी व्यय का योग बताया था। चित्र 6.9 समग्र मांग पर सरकारी व्यय के प्रभाव को दर्शा रहा है। हम, सरलता की दृष्टि से सरकारी व्यय का स्तर स्थिर मान लेते हैं। हमारा नया समग्र मांग वक्र C + I + G होगा। यह पुराने समग्र मांग वक्र C + I से ऊपर किंतु उसके समांतर रहेगा। क्योंकि उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर C + I तथा C + I + G का अंतर स्थिर सरकारी व्यय के समान होता है)।

इस प्रकार समग्र मांग में सरकारी व्यय को सम्मिलित करने पर वह मांग वक्र पुराने C + I + G के समांतर रहते हुए G जितना ऊपर उठ जाता है।

अब हम उन नीतिगत कदमों की बात कर सकते हैं जिनके माध्यम से मांग आधिक्य और मांग अभाव की समस्याओं से निपटा जा सकता है। आगे के सारे विवेचन में समग्र मांग से तात्पर्य C+ I + G अर्थात तीनों क्षेत्रों की मांग से ही होगा। इस परिवर्तन के कारण से मांग आधिक्य या अभाव की परिभाषा या प्रकृति में कोई अंतर नहीं आता। आइए। पहले मांग के अभाव की समस्या के समाधान पर विचार करें-

मांग अभाव का समाधान

ये तो हम जानते ही हैं कि समग्र मांग का पूर्ण रोज़गार के लिए आवश्यक मांग से कम होना ही मांग का अभाव है। चित्र 6.10 ऐसी ही एक अवस्था दर्शा रहा है।
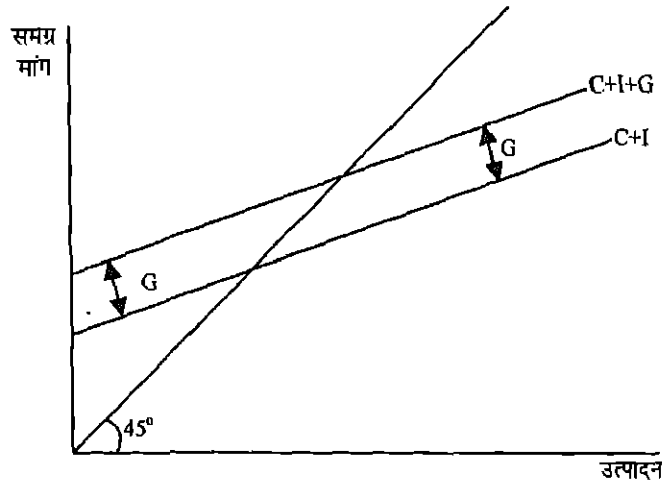
चित्र 6.9: सरकारी व्यय का समग्र मांग पर प्रभाव

यहां मांग के अभाव को दूर करने के लिए समग्र मांग को अवस्फीति अंतराल जितना ऊपर उठाना होगा। यही अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर के संतुलन बिंदु F पर पहुंचा पाएगा। समग्र मांग को बढ़ाने के लिए राजकोषीय, मौद्रिक या फिर दोनों ही नीतियों के किसी सम्मिश्रिण का प्रयोग किया जा सकता है।

राजकोषीय नीतियां

हम सबसे पहले समग्र मांग को बढ़ाने के राजकोषीय उपायों पर बातचीत कर रहे हैं। ये उपाय दो प्रकार के हो सकते है।: एक तो सरकार अपना व्यय बढ़ा सकती है या दूसरे वह करों को कम कर सकती है। यदि सरकारी व्यय को अवस्फीति अंतराल FG जितना
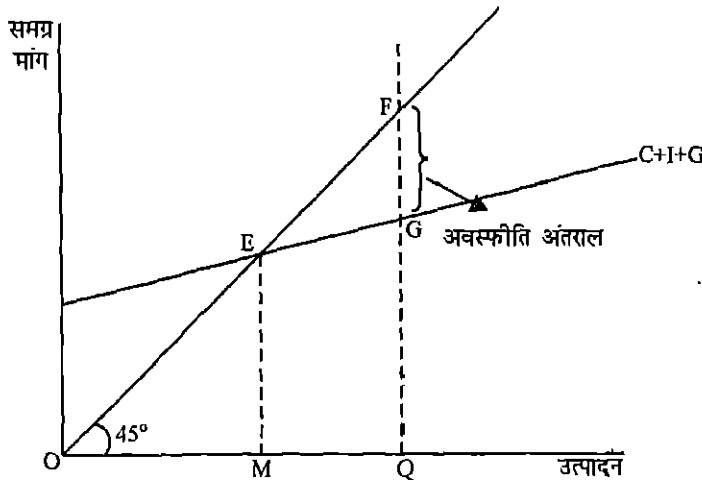
चित्र 6.10: त्रि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में मांग का अभाव
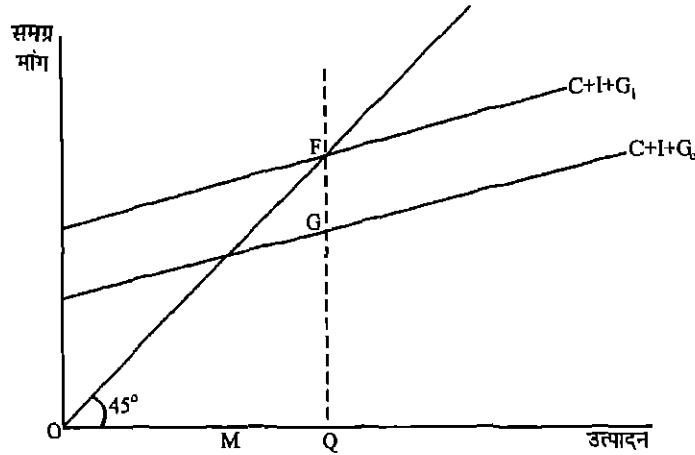
चित्र परि.6.11: सरकारी व्यय में वृद्धि

बढ़ा दिया जाए तो अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोज़गार संतुलन पुनः स्थापित हो सकता है। चित्र 6.11 में हमने इसी सरकारी व्यय की वृद्धि का प्रभाव दर्शाया है। नया समग्र मांग वक्र $C + I + G_1$ नए सरकारी व्यय G_1 से जुड़ा है। समग्र मांग का यह स्तर अर्थव्यवस्था को पूर्ण रोज़गार संतुलन पर बनाए रखने के लिए पर्याप्त होता है। इस पर पहुँचने के बाद मांग का अभाव नहीं रहता है। अर्थात सरकारी व्यय में FG जितनी वृद्धि से मांग के अभाव की समस्या का समाधान हो जाता है।

समग्र मांग वृद्धि का दूसरा राजकोषीय उपाय करों में कटौती है। इस कटौती से निर्वर्त्य आय के स्तर में (कटौती के समान) वृद्धि हो जाएगी। परिणामस्वरूप उपभोग व्यय में MPC गुना निर्वर्त्य आय वृद्धि जितनी वृद्धि होगी। यह उपभोग वृद्धि आगे अपने जितनी आय बढ़ा देगी। इस प्रकार भी (करों को घटाकर) समग्र मांग में वृद्धि की जा सकती है।

सरकार दोनों नीतियों के एक साथ प्रयोग, सरकारी व्यय में वृद्धि और करों में कटौती का विचार भी कर सकती है। कुल मिलाकर मांग के अभाव की समस्या का एक ही समाधान है: मांग में वृद्धि।

मौद्रिक नीतियां

सिद्धांततः तो मांग के अभाव का उपचार मौद्रिक नीतियों द्वारा भी हो सकता है। यहां फर्मों के निवेश व्यय को बढ़ाने में सहायक नीति विशेष उपयोगी रहेगी। इसे दो चरणों में अपनाया जा सकता है। पहला चरण तो साख की उपलब्धता को बढ़ाना है। इसके लिए सुरक्षित निधि अनुपात कम करना उपयोगी रहता है, इससे बैंकों के पास उधार देने योग्य राशि में वृद्धि हो जाती है। दूसरा चरण, ब्याज की दर को घटाना है। यह कार्य मुद्रा की आपूर्ति में वृद्धि द्वारा हो सकता है। इस कदम के पीछे एक ही ध्येय है: फर्मों को अधिक उधार लेने के लिए प्रोत्साहन देना। हम निवेश और ब्याज की दर का विलोम संबंध तो जानते ही हैं। अतः यदि देश का केंद्रीय (रिजर्व) बैंक[4] ब्याज की दर को कम कर दे तो निवेश मांग में वृद्धि हो सकती है।

---
[4] भारत के केंद्रीय बैंक का नाम भारतीय रिजर्व बैंक है।

निवेश की यह वृद्धि समग्र मांग को ऊपर उठा देगी। इस प्रकार ब्याज दर कम करके केंद्रीय बैंक निवेश संवर्धन के माध्यम से समग्र मांग में यथेष्ट वृद्धि कर अर्थव्यवस्था में पुनः पूर्ण रोज़गार की स्थापना कर सकता है।

मांग आधिक्य का उपचार

अभी तक हम यही जानते हैं कि यदि समग्र मांग पूर्ण रोज़गार उत्पादन स्तर से अधिक उत्पादन के लिए हो तो मांग आधिक्य की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। चित्र 6.12 में त्रि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में मांग का आधिक्य दर्शाया जा रहा है।

मांग आधिक्य की इस समस्या का समाधान *समग्र मांग में स्फीतिकारी अंतराल* जितनी कमी करना है। यह कमी अर्थव्यवस्था में कीमतों को ही कम करेगी, उसका उत्पादन फिर भी पूर्ण रोज़गार स्तर पर बना रहेगा। इस प्रकार कीमत वृद्धि (स्फीति) की समस्या का समाधान हो जाएगा। समग्र मांग की यह कटौती राजकोषीय और मौद्रिक, दोनों प्रकार की नीतियों से संभव है।

राजकोषीय नीतियां

समग्र मांग को घटाने की राजकोषीय नीतियां दो प्रकार की होंगी : (क) सरकारी व्यय G में प्रत्यक्ष रूप से कटौती करना, तथा (ख) कर बढ़ाकर उपभोग व्यय में कमी लाना।

हमारे पहले उदाहरण में हमने प्रत्येक आय स्तर पर 300 करोड़ रुपये के करों की बात की थी। उसे 400 करोड़ किया जा सकता है। कर की इस वृद्धि से निर्वर्त्य आय में प्रत्येक स्तर पर कमी आएगी और उपभोग फलन समांतर रहते हुए नीचे खिसक जाएगा। समग्र मांग में इस कारण कमी हो जाएगी। यदि करों में पर्याप्त वृद्धि कर दी जाए तो समग्र मांग में स्फीति अंतराल को समाप्त करने योग्य कमी लायी जा सकती है। यह अर्थव्यवस्था के संतुलन को पुनः पूर्ण रोज़गार स्तर पर पहुचां देगा।

चित्र 6.12 में यदि करों को इतना बढ़ा दिया जाए कि समग्र मांग C + I + G से गिरकर C' + I + G हो जाए तो कीमतों में गिरावट की प्रक्रिया स्फीति की समस्या का समाधान कर देगी।
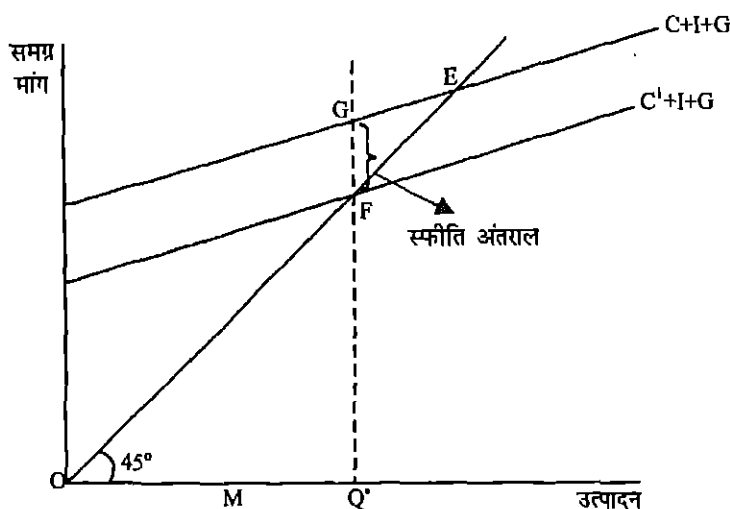
चित्र 6.12: त्रि-क्षेत्रकीय अर्थव्यवस्था में मांग आधिक्य

अत: समग्र मांग में कर वृद्धि के माध्यम से GF जितनी कमी मांग के आधिक्य को समाप्त कर देगी।

दूसरी राजकोषीय नीति तो सरकारी व्यय G में GF जितनी कटौती होगी। सरकार चाहे तो अपने व्यय में कटौती और करों में वृद्धि की नीतियों को एक साथ भी अपना सकती है।

मौद्रिक नीतियां

मांग आधिक्य का निदान करने के लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति फर्मों की निवेश मांग में कटौती के माध्यम से प्रभावी हो सकती है। एक बार फिर निवेश मांग और ब्याज दर का विलोम संबंध ही उपयोगी नीति के विषय में संकेत देता है। देश का केंद्रीय बैंक ब्याज दर को बढ़ाकर निवेश मांग में आवश्यक कमी लाने का प्रयास कर सकता है।

निवेश मांग में यह कमी समग्र मांग को कम कर देगी। अत: ब्याज दर में आवश्यक स्तर तक वृद्धि करके केंद्रीय बैंक निवेश मांग में कमी के माध्यम से समग्र मांग को इतना घटा सकता है कि स्फीति अंतराल समाप्त हो जाए। इससे कीमतों में यथेष्ट कमी हो जाती है।

सार संक्षेप

- आय का संतुलन स्तर वहां होता है जहां समग्र मांग उत्पादन स्तर के समान हो और प्रायोजित बचत प्रायोजित निवेश के समान हो।
- यदि समग्र मांग पूर्ण रोज़गार स्तर के उत्पादन से कम रह जाए तो यह मांग का अभाव होगा। इससे अवस्फीति अंतराल पैदा होता है।
- यदि समग्र मांग उत्पादन के पूर्ण रोज़गार स्तर से अधिक हो तो मांग आधिक्य उत्पन्न हो जाता है। इसी कारण स्फीति अंतराल पैदा होता है।
- सरकार के समावेश से समग्र मांग के तीन घटक हो जाते हैं; उपभोग, निवेश, और सरकारी व्यय।
- सरकारी क्षेत्र करों और व्यय के माध्यम से समग्र मांग के स्तर पर दोहरे प्रभाव डालता है।
- मांग आधिक्य और अभाव की समस्याओं को राजकोषीय और मौद्रिक, दोनों ही प्रकार की नीतियों द्वारा सुलझाया जा सकता है।

अभ्यास

1. संतुलन आय क्या होती है?
2. प्रायोजित और वास्तविक निवेश में अंतर क्या होता है?
3. गुणक क्या होता है?
4. मांग का अभाव क्या होता है?
5. मांग आधिक्य क्या होता है?
6. सरकारी क्षेत्र के समावेश से अर्थव्यवस्था पर क्या प्रभाव होते हैं?
7. मांग अभाव और मांग आधिक्य की समस्याओं से कैसे निपटा जा सकता है?

इकाई- IV

मुद्रा और बैंक व्यवस्था

अध्याय 7

मुद्रा और बैंक व्यवस्था

मुद्रा अर्थव्यवस्था में बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है-अपने जीवन में प्रत्येक कदम पर हमें मुद्रा का प्रयोग दिखाई देता है- वास्तव में मुद्रा के बिना जीवन निर्वाह की कल्पना करना भी कठिन लगता है। अर्थतंत्र में मुद्रा का सर्वोपरि कार्य तो वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय में सहयोग देना है। इसके प्रयोग से व्यापार करने में लगने वाले समय और प्रयास की बचत होती है।

बाल कथाओं के नायक रोबिनसन क्रूसो की कहानी पर विचार करें। वह किसी द्वीप पर अकेले रहता है। अपने उपभोग के लिए आवश्यक वस्तुओं का वह स्वयं ही उत्पादन कर लेता है। उसके लिए मुद्रा किस काम की ही होगी? वह इसे न खा सकता है और न पहन सकता है। मुद्रा का प्रयोग कर किसी से कोई वस्तु या सेवा खरीद पाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता- क्योंकि उस द्वीप पर बसने वाला वह एक अकेला व्यक्ति है।

अब कल्पना करें कि उसी द्वीप पर उसके दस और मित्र भी आ बसते हैं। ये सभी उपभोग के निमित्त आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने में जुट जाएंगे। काफी संभावना है कि उनमें से कोई एक वस्तु का निर्माण करने में अधिक कुशल होगा तो दूसरा किसी अन्य के उत्पादन में। अन्य वस्तुओं के उत्पादन में इनकी दक्षता बस औसत सी ही होती है। इस सारे ग्यारह सदस्यीय समूह के हित में तो यही होगा कि श्रम विभाजन का लाभ उठाएं। प्रत्येक सदस्य उसी वस्तु का उत्पादन करे जिसमें वह सबसे अधिक कुशल हो। वहां विद्यमान परिस्थितियों में इस प्रकार व्यक्ति स्तरीय विशिष्टीकरण के माध्यम से वहां वस्तुओं-सेवाओं की सबसे बेहतर संभव आपूर्ति सुलभ हो जाएगी।

किंतु साथ ही प्रत्येक सदस्य को अन्यों द्वारा उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के साथ अपने उत्पादन का अच्छे बड़े हिस्से का विनिमय भी करना होगा (तभी उसे सभी चीज़ें मिल पाएंगी)। ये विनिमय किस प्रकार होगा? सबसे सीधा रास्ता तो वस्तुओं से वस्तुओं का प्रत्यक्ष लेन-देन (वस्तु विनिमय) ही प्रतीत होता है। इन ग्यारह लोगों के संदर्भ में संभवतः अधिक समय और प्रयास के बिना ही वस्तु विनिमय व्यवस्था कार्य कर सकती है। आइए, इस अर्थव्यवस्था को हम *वस्तु-वस्तु-व्यवस्था* का नाम दे दें। दूसरे शब्दों में यह वस्तुओं की वस्तुओं से क्रय-विक्रय की अर्थव्यवस्था है।

जैसे-जैसे समूह का प्रसार होता है, वस्तुओं के प्रत्यक्ष विनिमय में कठिनाइयां आने लगती हैं। बड़े समूह में *वस्तु विनिमय की व्यापार लागतें* भी बड़ी हो जाएंगी। ये व्यापार लागतें वास्तव में व्यापार कर पाने की लागतें ही है। इनके दो घटक होते हैं: पहला

घटक तो *अन्वेषण (तलाश) लागत* है। यह अपने उत्पादन के बदले अभीष्ट वस्तु दे सकने वाले व्यक्ति को खोज पाने पर आया खर्च है। इसे और उत्पादन कर सकने योग्य समय को व्यापार सहयोगी के अन्वेषण पर खर्च करने की *अवसर लागत* कहा जा सकता है। इसकी दूसरी व्याख्या उस अन्वेषण अवधि में वस्तु की दशा में गिरावट या उसकी वांछनीयता में संभावित कमी भी हो सकती है। दूसरा घटक अन्वेषण अवधि में *प्रतीक्षा की अनुपयोगिता* होगी। ऐसे व्यक्ति की तलाश जो आपकी आवश्यक वस्तु, के बदले में वही चीज तलाश कर रहा हो आप बेचना चाहते हैं अब बहुत जटिल और समय लेने वाली हो जाती है। कारण यही है कि अब आपको बहुत अधिक लोगों में से ऐसे उपयुक्तम व्यक्ति की तलाश करनी है। जितना अधिक समय इस तलाश में लगेगा, अन्वेषण लागत भी उतनी ही अधिक हो जाएगी।

इस समस्या का एक संभव समाधान है किसी सामान्यत: स्वीकार्य वस्तु को विनिमय के माध्यम के रूप में प्रयोग करना। सामान्य स्वीकार्यता के कारण ही इसके माध्यम से लेन-देन संभव हो पाएगा। इससे व्यापार लागतों में बहुत कमी आएगी क्योंकि वांछित वस्तु के बदले आपके उत्पादन को चाहने वाले की तलाश की आवश्यकता कम रह जाएगी। इच्छाओं के इस *द्विपक्षीय* संयोग का महत्त्व समाप्तप्राय: हो जाएगा, इस द्विपक्षीय संयोग की कठिनाई ही बहुत बड़े समूह में वस्तु विनिमय के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा होती है। पिछले युग में अनेक स्थानों पर लोग सीपियों, मोती, कीमती (चमकीले रंग-बिरंगे) पत्थरों और यहां तक कि पशुओं, (गाय, भैंस, बैल, बकरी, घोड़े) आदि को भी विनियम के माध्यम के रूप में प्रयोग करते रहे हैं।

यदि वस्तु विनिमय व्यवस्था स्थापित हो जाए तो भी वस्तुओं से वस्तुओं के लेन-देन से जुड़ी सभी समस्याओं और लागतों का अंत नहीं हो जाता। इसका कारण यही है कि वस्तु विनिमय में कुछ निहित त्रुटियां होती हैं। उन त्रुटियों पर हम इसी अध्याय में आगे बातचीत करेंगे।

इस प्रकार मुद्रा का मुख्य ध्येय न्यूनतम लागत पर व्यापार को संभव बनाना होगा- जिससे विशिष्टीकरण का अधिकतम लाभ मिल सके तथा उत्पादिता उच्चतम स्तर तक पहुँच सके। आधुनिक अर्थव्यवस्थाओं में विशिष्टीकरण का स्तर बहुत ऊँचा होता है। यह विशिष्टीकरण फर्मों के स्तर पर ही नहीं वरन् भौगोलिक क्षेत्रों तथा पूंजी के प्रकार आदि के आधार पर भी हो सकता है। इस विशिष्टीकरण के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति की योग्यताओं-क्षमताओं के भरपूर प्रयोग, प्रत्येक क्षेत्र की विशेषताओं का अधिकतम लाभ और विशेष प्रकार की पूँजी के विशाल भण्डारों के प्रयोग के माध्यम से पैमाने के प्रतिफलों का विदोहन संभव हो पाता है। इसी के फलस्वरूप उत्पादिता और जीवन निर्वाह के उच्च स्तर प्राप्त हो पाते हैं। यह सारा विशिष्टीकरण इसी के अनुरूप अतिविकसित विनिमय और व्यापार व्यवस्था अर्थात मुद्रा के प्रयोग के अभाव में संभव नहीं हो पाता।

वस्तु विनिमय

हमारे परिचित स्वरूप में मुद्रा के आगमन से पहले व्यापार वस्तु विनिमय, अर्थात वस्तु के बदले वस्तु, विधि से ही चलता था।[1] वस्तु विनिमय की समय की बर्बादी भरी प्रकृति के कारण व्यापार का विकास बहुत सीमित रहता था। शीघ्र ही विनिमय से उपयोगिता लाभ की अपेक्षा विनिमय करने के प्रयास की अनुपयोगिता कहीं अधिक हो जाती थी। वस्तु विनिमय से जुड़ी कठिनायां कुछ इस प्रकार की होती थी:

---

[1] अगले 3 अनुच्छेदों में स्टीफन एम. गोल्डफेल्ड एण्ड लेस्टर वी. चैंडलर की रचना *इक्नॉमिक्स ऑफ मनी एंड बैंकिंग*, 8वां संस्करण, प्रकाशक: हार्पर एंड रो, न्यूयार्क, 1981 की सामग्री का बहुत प्रयोग किया गया है।

सबसे *पहली* कठिनाई तो यही थी कि वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यमान के मापन और अभिव्यक्ति की कोई सांझी इकाई नहीं होती थी। यहां मूल्यमान से तात्पर्य किसी वस्तु की एक इकाई के बदले बाज़ार में मिलने वाली अन्य वस्तुओं-सेवाओं की इकाइयों से है। ऐसी सर्वमान्य इकाई के अभाव के कारण लेखांकन की कोई उपयुक्त व्यवस्था विकसित नहीं हो पाती थी। प्रत्येक वस्तु या सेवा के मूल्यमान की अभिव्यक्ति अन्य सभी वस्तुओं और सेवाओं के रूप में करनी पड़ती थी। यदि बाजार में 1000 वस्तुएं हो तो प्रत्येक के 999 मूल्यमानों का निर्धारण कर उनका हिसाब रखना पड़ता था।

दूसरे, वस्तु विनिमय का आधार द्विपक्षीय-संयोग होता था और ऐसा कदाचित् ही हो पाता था कि एक वस्तु के बदले कुछ वस्तु विशेष पाने के इच्छुक को ऐसा व्यक्ति टकरा जाता जो अन्य किसी वस्तु की तुलना में पहले व्यक्ति द्वारा बनाई गई वस्तु को ही सर्वाधिक चाहता रहा हो और उसे उसकी वांछित वस्तु देने को तत्पर होता। एक ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहां एक व्यक्ति गाय के बदले बैलगाड़ी चाहता है। उसे ऐसे व्यक्ति की तलाश होगी जो उसकी अपनी पसंद के आकार प्रकार की बैलगाड़ी दे सके और बदले में उसकी गाय को लेने को तैयार हो। इस प्रकार के बैलगाड़ी विक्रेता का मिल जाना प्राय: आश्चर्यकारी ही होगा। संभवत: हमारे गाय विक्रेता को अभीष्ट बैलगाड़ी पाने से पूर्व कुछ और मध्यवर्ती लेन-देन करने पड़ेंगे। हो सकता है उसे गाय के बदले घोड़ा, घोड़े के बदले नाव, नाव के बदले भेड़ें और अंतत: उनके बदले बैलगाड़ी मिल पाएगी। अन्यथा वह बैलगाड़ी की अपेक्षा किसी अन्य कम संतुष्टीदायक वस्तु लेकर भी (थककर) बैठ सकता है।

तीसरे, वस्तु विनिमय व्यवस्था में ऐसी कोई इकाई नहीं होती जिसके सहारे भविष्य में भुगतान पर सहमति हो सके। किसी भी विनिमय-आधारित व्यवस्था में भविष्य में होने वाले भुगतानों के अनेक स्वरूप सामान्य रूप से देखे जा सकते हैं- जैसे मज़दूरी, वेतन, ब्याज, किराया-भाड़ा आदि के भुगतान। अन्य कई प्रकार की कीमतों का भुगतान भविष्य में करने की ही सहमति होती है। किंतु वस्तु विनिमय के अंतर्गत तो ऐसे भविष्य के भुगतानों का मान विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं के रूप में आकलित कर अंकित करना पड़ेगा। इसी कारण इस प्रकार की कठिनाइयां पैदा हो जाती थीं:

- भविष्य में दी जाने वाली वस्तुओं और सेवाओं के गुण-धर्मों को लेकर विवाद,
- भविष्य में भुगतान की वस्तु पर असहमति
- अनुबंध की अवधि के दौरान भविष्य भुगतान की वस्तु के अपने मूल्यमान में उतार-चढ़ाव का जोखिम- जिससे दो पक्षों में से एक को लाभ और दूसरे को हानि की संभावना रहती थी।

चौथे, वस्तु विनिमय व्यवस्था में सामान्य क्रय शक्ति को संग्रह कर पाने का कोई प्रावधान नहीं होता। वस्तुओं के भण्डार को ही भविष्य में अन्य वस्तुओं से बदलने के लिए जमा किया जा सकता था। इस वस्तु संग्रह के साथ अनेक प्रकार की भण्डारन लागतें, वस्तुओं के खराब हो जाने की आशंकाएं और उनके बाजार मान में उच्चावचन तथा फिर अपनी इच्छाओं के शमन से पूर्व उनके माध्यम से बहुत समय बिताए बिना वांछित वस्तुएं खरीद पाने की समस्याएं बंधी रहती थीं।

इन चार प्रकार की कठिनाइयों के कारण ही वस्तु विनिमय व्यवस्था बहुत ही अकुशल मानी जाती थी। इन्हीं समस्याओं के समाधान के रूप में समाज ने मुद्रा के उस स्वरूप का विकास किया है जिसे हम जानते हैं। औद्योगीकरण और व्यवसायीकरण के निरंतर प्रसार के कारण ही लेन-देन का मौद्रीकरण अनिवार्य हो गया था।

मुद्रा के कार्य

मुद्रा के चार प्रमुख कार्य हैं, ये पिछले अनुच्छेदों में चर्चित चारों समस्याओं में से एक-एक का समाधान कर देते हैं। मुद्रा के ये कार्य हैं: (1) मूल्य मान की इकाई, (2) विनिमय का माध्यम, (3) भविष्य के (स्थगित) भुगतानों का मानक, और (4) क्रय-शक्ति अथवा मूल्य का भण्डार। आइए, इन कार्यों पर कुछ विस्तार से चर्चा करें।

मूल्यमान की इकाई के रूप में मुद्रा

मुद्रा का पहला कार्य मूल्य की इकाई या लेखे की इकाई का काम चलाना है। मुद्रा ही वह इकाई है जिसके रूप में सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्यमानों का मापन और अभिव्यक्ति की जाती है। प्रत्येक वस्तु और सेवा का यही मूल्य उसकी *कीमत* कहलाता है। यह वस्तु की एक इकाई के बदले मिलने वाली मौद्रिक इकाइयों की संख्या होती है। यदि एक पैन की कीमत 10 रुपये है तो इसका अर्थ है कि दस रुपयों के बदले एक पैन मिल सकता है (यहां मौद्रिक इकाई रुपया है)।

मौद्रिक इकाइयों में सभी चीजों के मूल्यमानों का मापन उन वस्तुओं के परस्पर विनिमय मूल्य निश्चित करने में सहायक होता है। यदि एक पैन 10 रुपये में तथा एक कापी 20 रुपये में आती हो तो निश्चित रूप से एक कापी का मूल्यमान दो पैनों के समान होगा। यही नहीं, मौद्रिक कीमतों के आधार पर सभी वस्तुओं के मूल्यांकन के फलस्वरूप लेखांकन बहुत सरल हो जाता है-सभी वस्तुओं के मौद्रिक मूल्यों का जमा-घटा करना बहुत सरल रहता है।

किंतु मुद्रा तभी तक मूल्य के मापदण्ड का कार्य सही ढंग से कर पाएगी जब तक उसका अपना मूल्यमान स्थिर रहे। दूसरो शब्दों में वही पैमाना उपयोगी होता है जिसका आकार अपरिवर्तित रहता हो। मुद्रा के मूल्य से तात्पर्य उसकी *क्रय-शक्ति* से होता है। यह क्रय-शक्ति औसत कीमत स्तर के विलोम द्वारा आंकी जाती है। हम औसत कीमत स्तर का मापन उपभोक्ता सूचक जैसे किसी सूचक अंक से कर सकते हैं। जैसे-जैसे सामान्य कीमत स्तर में वृद्धि होती है, एक मौद्रिक इकाई पहले की अपेक्षा वस्तुओं और सेवाओं की कम मात्रा खरीद पाती है-यही मुद्रा की क्रय-शक्ति का ह्रास होता है। अतः मुद्रा तभी तक मूल्यमान की इकाई बनी रह पाएगी जब तक इसकी अपनी क्रय-शक्ति स्थिर रहती है।

मुद्राः विनिमय के माध्यम के रूप में

मुद्रा विनिमय या भुगतान के माध्यम का कार्य करती है। मुद्रा का यह कार्य तो वस्तुतः कोई भी ऐसी वस्तु कर सकती है जिसे लोग सामान्य रूप से वस्तुओं और सेवाओं के बदले स्वीकार कर लेते हों। यह 'कोई भी वस्तु' अलग-अलग 'काल परिस्थतियों में अनेक स्वरूप धारण करती रही है। पिछले समय में लोग मिट्टी, कोड़ियों, कछुओं के खोपड़ों, मवेशियों, घोड़ों, भेड़ों, चाय, तंबाकू, ऊन, नमक, शराब, नावों, लोहा, तांबा, पीतल, चांदी, सोना, कांसा, जस्ता, कागज़, चमड़ा, ताश के पत्तों, अन्य व्यक्तियों के कर्जों, बैंकों के ऋणों, राजकीय ऋणों आदि को मुद्रा के रूप में प्रयोग करते रहे हैं।

मुद्रा के प्रयोग से वस्तु विनिमय में खर्च होने वाले अनाश्वयक समय और श्रम की बचत होती है। हमारा गाय विक्रेता सबसे अधिक रूपये देने वाले का गाय बेचकर उस व्यक्ति से बैलगाड़ी खरीद सकता है जो उसे सबसे बढ़िया सौदे का अवसर दे रहा हो। अंततः तो प्रत्येक व्यापार एक लेन-देन ही होता है-कहीं एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु या सेवा का प्रत्यक्ष आदान-प्रदान होता है तो कहीं मुद्रा के माध्यम से। किंतु आदान-प्रदान में मध्यस्थता कर मुद्रा व्यापार की प्रक्रिया को बहुत सरल बना देती है।

मुद्रा को *विकल्पों का धारक* या *सामान्यीकृत क्रय शक्ति* भी कहा जाता है। यह वास्तव में मुद्रा धारक को सुलभ चयन की स्वतंत्रता की ओर ही इंगित करता है। गाय के स्वामी को उस व्यक्ति से ही कोई वस्तु खरीदने की मजबूरी नहीं रहती जिसे वह गाय बेच रहा है। वह गाय के उस खरीदार से प्राप्त मुद्रा का प्रयोग कर अपनी आवश्यकता की वस्तु जब चाहे और जहां से उसे जंचे, खरीद सकता है (तुरंत गाय को खरीदने वाले से कोई वस्तु लेने की बाध्यता समाप्त हो जाती है)। यह कार्य भी उसी समय ठीक से चल पाता है जब मुद्रा की क्रय-शक्ति स्थिर रहती हो।

मुद्रा : स्थगित भुगतानों का मानक

यदि मुद्रा पिछले दो अनुच्छेदों में उल्लिखित कार्य करती हो तो उससे भविष्य में होने वाले भुगतानों की इकाई का काम भी लिया जा सकता है। अनेक अवस्थाओं में किन्हीं कार्यों आदि का भुगतान बहुत बाद में होता है, जैसेकि पेंशन, मूल और ब्याज का भुगतान- यहां तक कि वेतन आदि भी। इन सभी कार्यों को भली प्रकार करने के लिए मुद्रा की क्रय-शक्ति में काफ़ी समय बीतने पर भी स्थिरता रहना नितांत अनिवार्य होगा। इसी से भविष्य के भुगतानों को वस्तुओं की इकाइयों से ही समीकृत और अंकित करने की समस्याओं का समाधान हो जाएगा।

मुद्रा : मूल्य के भण्डार के रूप में

जब मुद्रा को मूल्य की इकाई और भुगतान का माध्यम मान लिया जाता है तो यह सहज ही *मूल्य के भण्डार* का कार्य भी करने लगती है। इसके धारक के पास सामान्यीकृत क्रय-शक्ति का भण्डार होता है जिसे वह चाहे जब वस्तुएं और सेवाएं खरीदने पर खर्च कर सकता है। उसे यह विश्वास होता है कि प्रत्येक वस्तु या सेवा के बदले लोग मुद्रा को स्वीकार कर लेंगे। इसी नाते मुद्रा मूल्य के संचित भण्डार का कार्य कर लेती है। इस कार्य के लिए भी मुद्रा की क्रय-शक्ति की स्थिरता आवश्यक होती है।

यहां एक बात ध्यान देने योग्य हैं: मुद्रा के अतिरिक्त ऋण यत्र, जमापत्र और यहां तक कि भूमि और भवन आदि भी मूल्य के संचय का काम कर सकते हैं। इन परिसंपत्तियों में मुद्रा की अपेक्षा एक सद्गुण भी होता है। इनसे कुछ न कुछ आय भी मिलती है और सामान्यत: उनके मान में कुछ सुधार भी हो ही जाता है। किंतु इनके साथ कुछ समस्याएं भी होती है: (1) इन्हें संभालकर रखने की लागत होती है, (2) इनमें *अतरलता* या *तरलता का अभाव* पाया जाता है। (इन्हें बिना कोई नुकसान उठाए तुरंत मुद्रा में परिवर्तित करना आसान नहीं होता), और (3) कभी-कभी इनके मूल्य में भी गिरावट आने की आशंका बनी रहती है। सभी व्यक्ति अपनी आय, सुरक्षा और तरलता संबंधी गणनाओं के आधार पर मूल्य के भण्डार के स्वरूप का चयन कर सकते हैं।

मुद्रा की परिभाषाएं

हम यह तो अब जान ही चुके हैं कि मुद्रा से क्या कार्य अपेक्षित होते हैं। आइए, अब यह समझने का प्रयास करें कि मुद्रा में क्या कुछ सम्मिलित हो सकता है- अर्थात् इसकी परिभाषा क्या होनी चाहिए। मुद्रा की कई प्रकार की परिभाषाएं उपलब्ध हैं:

मुद्रा की विधि (कानून) पर आधारित परिभाषाएं

इस वर्ग की परिभाषाओं का सार एक वाक्य में ही निहित रहता है- "मुद्रा वह है जिसे कानूनी रूप से मुद्रा घोषित कर दिया गया है।" यदि कानूनी घोषणा हो जाती है तो किसी भी वस्तु को मुद्रा के रूप सामान्य स्वीकार्यता भी मिल ही जाती है। साथ ही इसे 'कानूनी शोधक या विधिसंगत देयता' (Legal tender) भी घोषित कर दिया जाता है- अर्थात यह घोषणा कर दी जाती है कि इसी के माध्यम से सभी

ऋणों का शोधन (भुगतान) होगा और यदि कोई ऋणदाता भुगतान स्वरूप इस विधि संगत देयता को स्वीकार करने से मना करेगा तो उसे और कुछ मांगने का अधिकार नहीं रहेगा।

सरकार द्वारा जारी करेंसी विधि संगत देयता होने के साथ-साथ *प्रादिष्ट मुद्रा* भी होती है- क्योंकि इसका मुद्रा होना सरकार के आदेश पर निर्भर होता है। यह बात जमा रूपी मुद्रा के आधार पर जारी चैको पर लागू नहीं होती। बैंको के पास जमाओं को उन्हें जारी करने वाले पर विश्वास के आधार पर ही मुद्रा के रूप में स्वीकार किया जाता है। अत: उन्हें *न्यासाधारित* अथवा *विश्वासाश्रित* मुद्रा का नाम दिया जाता है। वैसे किसी भी व्यक्ति को चैक स्वीकार करने से मना करने का कानूनी अधिकार होता है क्योंकि इसके पीछे जारीकर्ता के बैंक द्वारा इस चैक का सम्मान (भुगतान) करने की कोई गारंटी नहीं होती। चैक वास्तव में बैंक को जारीकर्ता के खाते से रकम चैक पाने वाले को हस्तांतरित करने का निर्देश मात्र होता है।

किंतु केवल कानूनी परिभाषाएं ही यह निर्धारित नहीं कर पाती कि मुद्रा का कार्य कौन सी वस्तुएं कर पाएगी। उदाहरणत: किन्हीं परिस्थितियों में लोग विधि संगत मुद्रा के बदले में भी सामान बेचने से मना कर सकते हैं। यही नहीं, कई ऐसी वस्तुएं, जिन्हें कानूनी रूप से भले ही मुद्रा घोषित नहीं किया गया हो पर उनका सामान्य भुगतान के माध्यम के रूप में प्रचलन हो जाता है- जैसे चैक (आजकल क्रेडिट कार्ड भी)।

मुद्रा की कार्याधारित परिभाषाएं

कार्य के आधार पर मुद्रा की परिभाषा में वे सभी वस्तुएं स्थान पा जाएंगी जो मुद्रा के चारों कार्य करने में समर्थ हो। केवल दो कार्यों- मूल्यमान की इकाई और स्थगित भुगतान का मान के आधार पर ही किसी वस्तु को मुद्रा में सम्मिलित करने का निर्णय उचित नहीं होगा। उदाहरण के रूप में एक मकान मूल्यवान भी है और भविष्य में भुगतान (की क्षमता) का मान भी। किंतु क्या उसे मुद्रा मान लेना उचित होगा? नहीं, क्योंकि मकानों को ऋणों के भुगतान और वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत चुकाने के लिए प्रयोग कर पाना इतना सहज नहीं होगा।

इस प्रकार से जो भी वस्तुएं सामान्यत: ऋणों को चुकाने तथा वस्तुओं और सेवाओं की कीमत देने के काम आ सकती हों, मुद्रा की आपूर्ति में सम्मिलित हो जाएंगी। यदि कोई वस्तु वास्तव में भुगतान के माध्यम के रूप में सामान्य स्वीकार्य हो गई है तो उसकी वैधानिक स्थिति चाहे जो भी हो, वह मुद्रा ही हो जाती है। भारत में मुद्रा की आपूर्ति में सिक्के, नोट (जिन्हें सम्मिलित रूप से *करेंसी* कहा जाता है) और बैंकों के पास जमाओं को सम्मिलित किया जाता है। करेंसी सामान्यत: स्वीकार्य होती है और इसमें 'कानूनी शोधक' या विधि संगत देयता का गुण भी होता है।

जमाओं में विभिन्न संस्थानों द्वारा किन्हीं शर्तों के अधीन अन्य लोगों से लेकर अपने पास रखी गई राशियां होती हैं। किंतु हम केवल बैंकों तथा डाकघरों के पास जमा राशियों को ही मुद्रा की आपूर्ति के किन्हीं वैकल्पिक मानों का घटक मानते हैं।

मुद्रा की 'संकुचित' और 'विस्तृत' परिभाषाएं

मुद्रा की संकुचित परिभाषा भुगतान के माध्यम रूपी कार्य पर ही आधारित है। विस्तृत परिभाषा के कुछ अन्य वस्तुएं भी सम्मिलित कर ली जाती हैं जिनमें प्रबल रूप से मुद्रा जैसे गुण होते हैं और जिनका मूल्य के भण्डार स्वरूप व्यापक रूप से प्रयोग होता है। इस प्रकार से विस्तृत परिभाषा में बैंकों और डाकघरों के पास सावधि और बचत जमाएं भी सम्मिलित हो जाती हैं। इन वित्तीय परिसंपत्तियों में यद्यपि मुद्रा जैसे गुणों के स्पष्ट दर्शन होते हैं फिर भी इन्हें सामान्यत: भुगतान के माध्यम के रूप में स्वीकार्यता प्राप्त नहीं है। इसी अध्याय में आगे चलकर हम मुद्रा संकुचित

एवं विस्तृत स्वरूपों के कुछ उदाहरणों के बारे में भी बातचीत करेंगे।

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का इसके मुद्रा स्वरूपी मान तथा वस्तु स्वरूपी मान के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है। ये वर्गीकरण इस प्रकार हैं:

संपूर्ण मूर्तिमान मुद्रा: संपूर्ण रूप से मूर्तिमान मुद्रा वह होती है जिसका मौद्रिक मान वस्तुमान के समान ही होता है। पुराने समय की अधिकतर मुद्राएं (जैसे- सोना, चाँदी, मवेशी आदि) इसी वर्ग में आती हैं। उनका गैर-मौद्रिक प्रयोग मान भी मौद्रिक प्रयोग में मान के समान रहता था। आधुनिक युग में भी पूर्ण मूर्तिमान मुद्रा का प्रचलन रहा है- किंतु यह तभी तक था जब सुवर्ण मान के अंतर्गत सोने के सिक्के बनते थे या रजत मान में चाँदी के, या फिर द्वि-धातुमान में सोने और चाँदी दोनों के ही सिक्कों की ढलाई होती थी।

प्रतिनिधि पूर्ण मूर्तिमान मुद्रा: यह मुद्रा मुख्यत: कागज़ी होती है। यह एक प्रकार से पूर्ण मूर्तिमान मुद्रा की मात्रा या सोने चाँदी को भण्डार गृह में जमा कराने की चल-पावती (प्रचलन में आ गई रसीद) होती है। इस रसीद के कागज़ का अपना कोई मूल्य नहीं होता- हां उस पर अंकित राशि अवश्य उतनी ही मुद्रा को अभिव्यक्त करती है जितना उस मुद्रा का वस्तुमान होता है। इस प्रकार की मुद्रा का सबसे बड़ा उपयोग मुद्रा की भारी राशियों को इधर-उधर ले जाने में होता था। जरा सोच कर देखें की सोने के सिक्कों से भरे बोरों को ढोने की अपेक्षा कागज के एक पुर्जे को कही ले जाना कितना आसान रहा होगा।

साख मुद्रा: इस मुद्रा का मौद्रिक मूल्य वस्तु मूल्य से अधिक होता है- अर्थात् जिस वस्तु का प्रयोग कर मुद्रा बनाई (छापी या ढाली) गई है उसका मूल्य अंकित मौद्रिक मान से बहुत कम होता है। यह अपने वस्तुमान से अधिक मौद्रिक मान को कैसे धारण कर पाती है? इसके लिए मुद्रा की मात्रा को सीमित रखने तथा उस वस्तु का अप्रतिबंधित रूप से मुद्रा में परिवर्तन रोककर किया जाता है। सरकार विशेष प्रकार की मुद्रा की जारी होने वाली राशि का ही निर्धारण नहीं करती- वह मुद्रा बनाने योग्य उस सामग्री की आपूर्ति का भी ध्यान रखती है। उस वस्तु की शेष आपूर्ति को केवल गैर-मौद्रिक कार्यों के लिए ही प्रयोग किया जाता है। यह शेष आपूर्ति गैर-मौद्रिक मांग की तुलना में इतनी विशाल होती है कि वस्तु का बाज़ार मूल्य मौद्रिक मूल्य से कम रह जाता है।

साख मुद्रा के प्रकार

1. *सांकेतिक सिक्के:* हमारे सभी सिक्के (5, 2, 1 रुपये, 50, 20, 10, 5 पैसे) एक प्रकार से सांकेतिक सिक्के ही हैं- इनका मौद्रिक मान इनमें लगी धातु के मूल्य से अधिक होता है। यदि आप 5 रुपये के एक सिक्के को पिघला कर उस धातु को बाज़ार में बेचना चाहें तो पाँच रुपये प्राप्त कर पाना बड़ा कठिन हो जाएगा।
2. *प्रतिनिधि सांकेतिक मुद्रा:* यह सांकेतिक सिक्कों या चाँदी के उपयुक्त भण्डार का गृह पावती कागज़ होता है। यही नहीं उस भण्डार मुद्रा के आधार स्वरूप सिक्के और चाँदी के भण्डार का वस्तुमान भी कागज पर अंकित मौद्रिक मान से कम होता है। उदाहरणत: मान लो कि अर्थव्यवस्था में 10,000 रुपये की सांकेतिक प्रतिनिधि-मुद्रा परिचालन में है। इसका आधार 10,000 रुपयों के जमा सिक्के होंगे। किन्तु उन सिक्कों में लगी धातु का मूल्य (अर्थात् उनका वस्तुमान) 10,000 रुपये से कम होगा। यदि सुरक्षित भण्डार में सिक्को के स्थान पर चाँदी रखी होती तो उसका बाज़ार मूल्य भी 10,000 रुपये से कम ही होता।
3. *केंद्रीय बैंकों द्वारा जारी प्रचलित नोट:* आधुनिक समय में करेंसी का सबसे बड़ा घटक यही होता

है। भारत में सभी करेंसी नोटों का निर्गम भारतीय रिजर्व बैंक ही करता है। यदि आप कोई नोट उठाकर देखें तो आपको यह वाक्य स्पष्ट दिखाई दे जाएगा 'मैं धारक को X रुपये देने का वचन देता हूँ।' इसके नीचे भारतीय रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर होते हैं। इस प्रकार यह रिजर्व बैंक द्वारा जारी प्रचलित वचन पत्र ही है।

4. *बैंकों के पास जमाएं :* बैंकों के पास ये जमाएं, अर्थात बचत जमाएं ग्राहकों के बैंकों पर दावे होते हैं- इन्हें चैक द्वारा परस्पर हस्तांतरित किया जा सकता है। बैंक सारे चैक वाले जमा खातों के समतुल्य मुद्रा अपने पास सुरक्षित निधि के रूप में नहीं रखते। इसी कारण से ये चैक जमाएं साख मुद्रा का रूप धारण कर लेती हैं। बैंक शत प्रतिशत से कम मुद्रा अपने पास रखकर भी चैक जमा खाताधारियों का काम किस प्रकार चला देते हैं? इस बारे हम इसी अध्याय में कुछ आगे चलाकर विस्तार से चर्चा करेंगे।

भारतीय मौद्रिक व्यवस्था

भारत इस समय कागजी मुद्रा मान पर कार्य कर रहा है। इसे प्रबंधित मुद्रा मान भी कहते हैं।

मुद्रा मान से तात्पर्य उस मानक मुद्रा से है जिसका अर्थव्यवस्था में प्रयोग होता है। मानक मुद्रा ही विधि ग्राह्यमुद्रा होती है। इसी के प्रयोग द्वारा देश की सरकार अपने सभी दायित्वों को पूरा करती है। इस प्रकार मौद्रिक मानक देश के मौद्रिक अधिकारियों द्वारा अपनाए गई मानक मुद्रा के समतुल्य हो जाता है। भारत के मौद्रिक अधिकारी, भारतीय रिजर्व बैंक, ने कागज की बनी मानक मुद्रा को अंगीकार किया है। इसीलिए भारत कागजी मुद्रामान पर है।

कागजी मुद्रा देश की मुख्य करेंसी या मुद्रा है। यह असीमित 'विधि संगत देयता' के गुण से संपन्न है। इसके प्रयोग द्वारा कितने ही बड़े ऋण का निपटान हो सकता है और इसके माध्यम से कितनी ही बड़ी राशि का लेन-देन किया जा सकता है। बहुत छोटे-छोटे भुगतानों के लिए सस्ती धातुओं के बने सिक्कों का प्रयोग होता है। इनकी विधिसंगत देयता सीमित होती है। जरा सोचकर देखिए कि 1000 रुपये के ऋण का 50 पैसे के सिक्कों द्वारा भुगतान कितना असुविधाकारी होगा।

भारतीय रिजर्व बैंक को एक रुपये को छोड़कर अन्य सभी करेंसी नोट निर्गमन करने का एकाधिकार दिया गया है। भारत सरकार एक रुपये के नोट और सभी सिक्कों का निर्गमन स्वयं ही करती है। किंतु सरकार द्वारा निर्गमित सिक्कों और एक रुपये के नोटों को प्रचलन में डालने का कार्य भारतीय रिजर्व बैंक के ही जिम्मे है।

भारत में करेंसी निर्गमन व्यवस्था को *न्यूनतम सुरक्षित निधि* व्यवस्था कहते हैं। यहां प्रचलित कागजी मुद्रा को सोने जैसी मूल्यवान धातु में परिवर्तित नहीं किया जाता। इसी कारण हम करेंसी को *अपरिवर्तनीय* भी कहते हैं।

मुद्रा की आपूर्ति

पिछले अनुच्छेद में हमने मुद्रा की परिभाषा की है। आइए, अब उन वस्तुओं की सूची बनाने का कार्य करे जो मुद्रा के कार्य कर लेती है।[2] इस प्रकार सभी प्रकार की मुद्राओं का किसी समय विशेष पर योगफल आकलित हो पाएगा। उसी को मुद्रा की आपूर्ति का नाम दिया जाता है। पृथक-पृथक समय बिंदुओं पर इस प्रकार आकलन करके हम मुद्रा की आपूर्ति की काल शृंखला की रचना कर सकते हैं। इस

---

[2] आगे के खण्ड सूरज बी. गुप्ता की रचना, *मोनेटरी इक्नॉमिक्स : इन्स्टीचूशन्स, थ्यौरी एण्ड पोलीसी* 1982 पर आधारित हैं।

काल शृंखला को अन्य आर्थिक चरों (आय, मजदूरी, कीमतें, रोज़गार, आदि) की काल शृंखलाओं के साथ रख, एक साथ विश्लेषण कर हम अर्थव्यवस्था में अन्य चरों पर मुद्रा के प्रभावों को भी समझ सकते हैं।

मुद्रा की आपूर्ति के मापन के विषय में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। पहली बात तो यही है कि मुद्रा की आपूर्ति एक स्टॉक चर है। इसका काल आयाम नहीं होता। यह आपूर्ति किसी समय बिंदु पर उपलब्ध मुद्रा की सारी मात्रा को दर्शाती है। आय की भांति मुद्रा की आपूर्ति कोई प्रवाह चर नहीं होती। इसे रुपयों की संख्या प्रतिवर्ष द्वारा अभिव्यक्त करना उचित नहीं होगा।

दूसरे, मुद्रा के स्टॉक से तात्पर्य जनता द्वारा धारित स्टॉक से होता है। यह निश्चित रूप से मुद्रा के समस्त स्टॉक से कम रहता है। 'जनता' में हम मुद्रा के निर्माताओं- अर्थात् सरकार तथा बैंक व्यवस्था को छोड़ शेष सभी आर्थिक इकाइयों को सम्मिलित करते हैं। बैंक व्यवस्था में रिजर्व बैंक के साथ-साथ मांग जमाएं स्वीकार करने वाले सभी बैंक संस्थान सम्मिलित रहते हैं। इस विभेदन का एक ही कारण है: हम मुद्रा के निर्माताओं को उसके धारकों या मांग कर्ताओं से अलग रखना चाहते हैं। मौद्रिक विश्लेषण के लिए यह विभेदन या अलगाव आवश्यक होता है।

मुद्रा की आपूर्ति के माप

यह मापकों की परिभाषा वस्तुत: उपयुक्त आंकड़ों के समूहों की पहचान करना ही है। इसमें मुद्रा की आपूर्ति के विभिन्न मापकों की व्यवहारिक परिभाषा कर उनके मान आकलित किये जाते हैं। भारतीय रिजर्व बैंक देश में मुद्रा की आपूर्ति के चार वैकल्पिक मानों के आंकड़े नियमित रूप से प्रकाशित करता है। ये मान क्रमश: M_1, M_2, M_3 और M_4 हैं। इनकी परिभाषाएं इस प्रकार हैं:

$$M_1 = C + DD + OD$$

यहां C जनता द्वारा धारित करेंसी होती है। इसमें सिक्के तथा नोट, दोनों सम्मिलित हैं। DD बैंकों के पास मांग जमा खातों में जमा राशियां हैं। बैंकों के पास इन मांग जमाओं का निवल आकार मुद्रा की आपूर्ति का अंग होता है। एक बैंक में दूसरे बैंक द्वारा रखी गई मांग जमा जनता द्वारा धारित मांग जमा की श्रेणी में नहीं आती। हम मुद्रा की आपूर्ति को जनता द्वारा धारित स्टॉक के रूप में परिभाषित करते हैं। इसीलिए बैंकों के पारस्परिक जमाओं को इस पद से बाहर रखना आवश्यक होता है।

OD रिजर्व बैंक के पास संग्रहित अन्य जमाएं हैं। इसमें बैंक व्यवस्था तथा सरकार के अतिरिक्त अन्य सभी आर्थिक इकाइयों द्वारा रिजर्व बैंक के पास जमा रखी गई राशियां सम्मिलित हैं। OD में अन्य सार्वजनिक वित्तीय संस्थाएं (जैसे IDBI आदि), विदेशी केंद्रीय बैंक और सरकारें तथा विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी संस्थाओं द्वारा रिजर्व बैंक के पास जमा कराई गई बचत राशियां भी सम्मिलित होती हैं।

$M_2 = M_1$ + डाक घर बचत बैंक में जमा राशियां।
$M_3 = M_1$ + बैंकों के पास जमा निवल सावधि जमाएं।
$M_4 = M_3$ + डाक घर बचत संगठनों के पास जमा समस्त जमाएं (राष्ट्रीय बचत पत्रों को छोड़कर)

उपयुक्त रचना से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि M_1 तथा M_2 तो मुद्रा की आपूर्ति के संकुचित मान हैं। M_3 और M_4 को विस्तृत या व्यापक मान कहा जा सकता है। M_3 मुद्रा की आपूर्ति का सबसे अधिक प्रयोग होने वाला मान है। इसी को हम *समाज के समग्र मौद्रिक संसाधनों* का नाम भी देते हैं।

भारतीय रिजर्व बैंक मुद्रा के स्टॉक के इन चार मानों का तरलता के स्तर के अनुसार वर्गीकरण भी करता है। स्पष्ट ही M_1 सर्वाधिक तरल है और M_4 की तरलता न्यूनतम है। तरलता से अभिप्राय: किसी

परिसंपत्ति को मूल्य में घाटा उठाए बिना तुरंत नकदी में परिवर्तित कर पाने की क्षमता से होता है।

मुद्रा की आपूर्ति के इन मापकों की परिभाषा से अगला कदम है समाज में किसी समय बिंदु विशेष पर मुद्रा के भण्डार के निर्धारकों की पहचान करना। साथ ही यह जानना भी उपयोगी रहता है कि इस आपूर्ति में समयानुसार परिवर्तन लाने वाले कारक कौन से हैं। मुद्रा की आपूर्ति में तभी परिवर्तन होगा जब इसका कोई घटक परिवर्तित हो। अतः C, DD तथा बैंक जमाओं में निवल परिवर्तन M_3 द्वारा मापित मुद्रा भण्डार में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी रहते हैं। मुद्रा की आपूर्ति और उसके परिवर्तनों की चर्चा को हम एक बार यहीं विराम दे रहे हैं। इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकर्ता संस्थाओं, भारतीय रिजर्व बैंक तथा सामान्य बैंक व्यवस्था के क्रिया-कलापों की व्याख्या के बाद हम आपूर्ति संबंधी विचार क्रम को और आगे बढ़ाएंगे।

बैंक व्यवस्था

व्यावसायिक बैंक

बैंकिंग कार्य को उधार देने या निवेश के ध्येय से ऐसे जमा स्वीकार करने को व्यवसाय कहा जाता है जिसमें जनसामान्य से इस प्रकार एकत्र धनराशी मांगने पर या चैक ड्राफ्ट या आदेश पत्र के माध्यम आहरित हो सकती है। इस प्रकार किसी वित्तीय संस्थान (FIs) को बैंक का रूप देने वाले दो लक्षण होते हैं: जन सामान्य से चैक द्वारा आहरणीय जमा स्वीकार करना तथा उधार देना।

चैक द्वारा आहरणीय जमा स्वीकार करना वह आवश्यक लक्षण है जो किसी वित्तीय संस्थान को बैंक बना देता है-- पर यह अपने आप में पर्याप्त नही रहता। उसी हिसाब से डाकघर बचत बैंकों को वास्तव में बैंक नही माना जा सकता। वे जनता से जमा तो स्वीकार करते हैं (पर चैक द्वारा आहरण की सुविधा नहीं देते) पर उधार देने का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करते।

इसी प्रकार केवल उधार देना भी किसी संस्थान को बैंक का स्वरूप प्रदान करने के लिए पर्याप्त नहीं रहता। उदाहरणस्वरूप भारत में जीवन बीमा निगम, युनिट ट्रस्ट तथा औद्योगिक विकास बैंक आदि कई विशालकाय वित्तीय संस्थान उधार देने और निवेश का कार्य तो करते हैं, किंतु चैक आहरणीय जमाएं स्वीकार नहीं करने के कारण इन्हें बैंक नहीं माना जाता। व्यावसायिक बैंकों के *मुख्य कार्य* इस प्रकार है:

1. जमाएं स्वीकार करना

बैंक आम जनता से तीन प्रकार के खातों में जमाएं स्वीकार करते हैं:

- *चालू खाता जमा:* इन खातों में जमा राशियां मांग देय होती हैं। इन्हें चैक द्वारा निकालने पर किसी प्रकार की बाधा नहीं होती। सामान्यतः इन खातों को व्यवसायी लोग खोलते हैं और इनसे व्यवसाय संबंधी लेन-देन करते रहते हैं। इनमें जमा धनराशी पर बैंक कोई ब्याज नहीं देते। वे खाताधारियों को नाममात्र शुल्क के आधार पर अनेक प्रकार की सेवाएं प्रदान करते हैं। इनमें सबसे पहली सेवा तो चैक की सुविधा ही है। इन जमाओं के स्वामीत्व के अंतरण के साथ ही इनका भुगतान के माध्यम रूपी कार्य संपन्न हो जाता है। बैंक इन खातों में हुए सभी लेन-देनों का पूरा ब्यौरा अपने पास दर्ज रखता है और समय-समय पर प्रत्येक खाताधारी अपने खाते की प्रतिलिपि प्रदान करता है।
- *स्थिर या सावधि जमाएं:* ये जमाएं किसी निश्चित अवधि के लिए स्वीकार की जाती हैं। ये अवधि चंद दिनों से लेकर कई वर्षों तक हो सकती है। ये जमाएं मांग पर देय नहीं होती, इनका चैक द्वारा आहरण भी नहीं होता। केवल नियत अवधि के अंत में परिपक्वता के समय ही इनका आहरण हो

सकता है। इन जमाओं पर ब्याज दिया जाता है। सामान्यत: अधिक लम्बी अवधि की जमा पर उच्चतर दर से ब्याज दिया जाता है। सावधि जमाओं का एक प्रकार भेद *आवर्ती जमा* भी है। इन खातों के धारक एक निश्चित अवधि तक पूर्व-निर्धारित राशि प्रतिमाह जमा करते हैं (उदाहरणत:) 5 वर्षों तक 100 रुपये महीना)। इन खातों पर भी ब्याज दिया जाता है।

- *बचत खाता जमाएं :* इन खातों में चालू खातों ओर सावधि खातों की विशेषताओं का सम्मिश्रण होता है। इन्हें मांग पर और चैक द्वारा आहरित *किया जा सकता है। किंतु निश्चित अवधि में* जारी किए गए चैकों की संख्या सीमित रहती है। इन पर कुछ ब्याज दिया जाता है- पर उसकी दर सावधि खाते से कम होती है।

मौद्रिक विश्लेषक जमाओं के दो ही प्रकार मानते हैं- मांग जमा तथा सावधि जमा। मांग जमाएं मांग पर या चैक द्वारा आहरित होती है। इस प्रकार केवल मांग जमाएं ही विनिमय का माध्यम हो सकती हैं, क्योंकि, उनका स्वामित्व चैक के माध्यम से किसी अन्य को हस्तांतरित किया जा सकता है। अन्य ऐसी सभी जमाएं जो मांग देय नहीं होती सावधि जमा मानी जाती हैं।

इस प्रकार सभी चालू जमाएं मांग जमाएं होगी और सभी सावधि जमाएं समय पूरा होने पर देय जमाएं होगी। बचत खातों का इस स्पष्ट वर्गीकरण के अनुसार विभाजन सहज नहीं हो पाता क्योंकि इनमें मांग और सावधि के लक्षणों का सम्मिश्रण रहता है भारतीय रिजर्व बैंक ने एक कसौटी की रचना की है जिसके आधार पर बचत खातों की जमाराशी का मांग जमा और सावधि जमा वर्गो में विभाजन किया जाता है। यह कसौटी है: बचत खातों के जिस औसत मासिक शेष पर ब्याज दिया जाता है, वह सावधि जमा होगी- इससे अधिक राशी को मांग जमा माना जाएगा।

2. ऋण देना

बैंक जमा के रूप में संग्रहित राशियों को बेकार नहीं पड़े रहने देते । इनका एक अंश सुरक्षित कोष के रूप में रख कर शेष अग्रिम और उधार के रूप में ग्राहकों को दे दिया जाता है। बैकों द्वारा दिए गए अग्रिम और उधारों की निम्न किस्में होती हैं:

- *नकद साख:* इस विधि में उधार लेने के पात्र ग्राहक के लिए साख सीमा निर्धारित कर दी जाती है। यह सीमा बैंक द्वारा ग्राहक की साख अर्हता (अथवा साख सुपात्रता) के आकलन पर निर्भर रहती है। किंतु ग्राहक द्वारा इस सीमा तक की राशी का प्रयोग तो उसकी *आहरण क्षमता* पर निर्भर करता है। यह आहरण क्षमता ग्राहक की वर्तमान परिसंपत्तियों के मूल्य पर निर्भर रहती है। इन परिसंपत्तियों में मुख्यत: उसके पास वस्तुओं के भण्डार- अर्थात कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित और निर्मित वस्तुओं के भण्डार, तथा अन्य व्यवसायियों से प्राप्य (हुंडियां) राशियां सम्मिलित होती हैं। उधारकर्ता को अपने व्यवसाय और उत्पादक गतिविधियों के प्रमाण स्वरूप अपनी परिसंपत्तियों का पूरा विवरण बैंक के पास एक दस्तावेज के रूप में जमा करना पड़ता है । बैंक ऋण न चुकाए जाने की दशा में उस दस्तावेज में दर्शायी गई परिसंपत्तियों पर अधिकार करने की कार्यवाही कर सकता है। उधारकर्ता को ब्याज केवल आहरित या प्रयुक्त साख सीमा पर ही चुकाना होता है।
- *मांग-उधार:* ये ऐसे ऋण हैं जिन्हें बैंक जब चाहे वापस मांग सकता है। इनकी कोई नियत परिपक्कवता अवधि नहीं होती। ऋण की सारी राशि एक साथ ऋणकर्ता के खाते में जमा कर दी जाती है। अत: इस सारी रकम पर ब्याज भी तुरंत लगने लगता है। इस प्रकार के ऋण शेयर

बाजार के दलाल आदि मुख्यत: लेते हैं- क्योंकि उनकी साख आवश्यकताएं दिन-प्रतिदिन बदलती रहती है। इन ऋणों के लिए बैंक व्यक्तिगत गारंटी वित्तीय परिसंपत्तियों या वस्तु भण्डारों को प्रतिभूति के रूप में स्वीकार करते हैं।

- *अल्पावधि ऋण:* अल्पावधि ऋणों में व्यक्तिगत ऋण, काम चलाऊ पूंजी ऋण तथा अन्य प्राथमिकता प्राप्त (वरीयता) क्षेत्रों को दिए गए ऋण सम्मिलित होते है। ये भी प्रतिभूतियों के आधार पर दिए गए ऋण हैं तथा इनकी भी सारी राशियां एक साथ ऋणकर्ता के ऋण खाते में हस्तांतरित हो जाती है। अत: सारी रकम पर ब्याज भी तुरंत लगना शुरू हो जाता है। इन ऋणों की वापसी पहले ही तय की गई शर्तो के अनुसार ऋण अवधि के दौरान सुविधाजनक किश्तो में अथवा अवधि पूरी होने पर एक साथ की जाती है।

यही नहीं, बैंक अपने ग्राहकों को उनकी आवश्यकता के अनुसार ये सेवाएं भी प्रदान करते है।:

3. अधिविकर्ष

यह ग्राहक को अपने चालू खाते की राशि से किसी सीमा तक अधिक रकम का चैक जारी करने की सुविधा होती है। इसके लिए स्वीकार्य प्रतिभूतियां, खाताधारी की शेयर, ऋणपत्र, बीमा पालिसी आदि वित्तीय परिसंपत्तियां होती है। यह एक अस्थायी सुविधा होती है, इस पर ब्याज भी नकद साख से कम होता है। बैंक इस ऋण की सेवा लागत कम मानते हैं क्योंकि वित्तीय परिसंपत्तियों को भुनाना (बेचकर नकदी पाना) भौतिक संपत्तियों की बिक्री कर पाने से कहीं अधिक सुगम होता है।

4. हुंडियां की कटौती

हुंडियां प्राप्त हुई वस्तुओं के मूल्य को चुकाने के दायित्व की स्वीकारोक्ति पत्र होती है। उदाहरण: व्यक्ति A ने B से कुछ वस्तुएं खरीदी और उसे तुरंत भुगतान नहीं किया। वह उसको एक स्वीकारोक्ति पत्र (हुंडी) लिखकर दे देता है, जिसमें इस लेन-देन की राशि और उसे चुकाए जाने की तिथि भी लिखी होती है। यदि B को तुरन्त नकदी की आवश्यकता हो तो वह अपने बैंक से उस हुंडी की *कटौती* करा सकता है। बैंक कुछ कमीशन या शुल्क काट कर हुंडी की शेष राशि B को सौंप देता है। हुंडी परिपक्कव होने पर बैंक A से उसकी पूरी रकम उगाह लेगा।

5. जमा राशियों का निवेश

बैंक अपने पास संग्रहित धन राशियों का तीन प्रकार की प्रतिभूतियों में निवेश भी करते है। ये है: सरकारी प्रतिभूतियां, अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियां तथा अन्य प्रतिभूतियां। सरकारी प्रतिभूतियों में केंद्र और राज्य सरकारों द्वारा जारी हुंडियां और राष्ट्रीय बचत पत्र आदि होते है। अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में बैंकिग नियमन अधिनियम 1949 में सम्मिलित प्रतिभूतियां हैं। इनमें सरकार से संबंधित उपक्रमों जैसेकि, विद्युत मंडल, आवास मंडल की प्रतिभूतियां, भूमि विकास बैंक के ऋण पत्र, युनिट ट्रस्ट की युनिटें तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैकों के अंश पत्र आदि सम्मिलित है।

बैंकों द्वारा सरकारी व अन्य अनुमोदित प्रतिभूतियों में कुछ निवेश तो रिजर्व बैंक के वैधानिक तरलता अनुपात की प्रतिपूर्ती के कारण भी अनिवार्य रहता है। अक्सर बैंक इनमें कुछ न कुछ अधिक राशि लगाए रखते हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर इनके आधार पर रिजर्व बैंक से तुरंत उधार मिल सकता है। या इन्हें बाजार में तत्काल बेचा भी जा सकता है। बैंकों द्वारा उधार और अग्रिमों की तुलना में कम ब्याज के बावजूद इन प्रतिभूतियों का धारण करने का एक ही आधार है: ये प्रतिभूतियां बहुत तरल होती हैं- इन्हें तुरंत ही नकदी में बदला जा सकता है।

6. बैंक अभिकर्ता के रूप में

अपने ग्राहकों से कुछ कमीशन के आधार पर बैंक उस के अभिकर्ता के रूप में भी काम करते है। बैंकों द्वारा अभिकर्ता के रूप में ये सेवाएं प्रदान की जाती हैं।

(i) नकद कोषों का हस्तांतरण - बैंक धनादेश, डाक धनादेश तथा तार धनादेशों के माध्यम से अपने ग्राहकों के निर्देश पर दूर दराज के क्षेत्रों तक उनकी धन राशियों का बहुत सस्ते और आसानी से हस्तांतरण कर देते हैं।

(ii) *नकद संग्रहण:* ग्राहकों के लिए चैक, धनादेश, हुंडियों आदि की रकम उनके दाताओं से वसूल करना बैंकों के सामान्य कार्यो का हिस्सा समझा जाता है।

(iii) ग्राहकों की ओर से अंश पत्रों व अन्य प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय।

(iv) ग्राहकों की ओर से अंश पत्रों पर लाभांश और ऋणपत्रों पर ब्याज वसूलना।

(v) ग्राहकों के निर्देश पर उनके बिलों, बीमा किश्तों आदि का भुगतान ।

(vi) वसीयतों के न्यासी और प्रबंधकर्ता का दायित्व निभाना।

(vii) ग्राहकों को आयकर परामर्श देना और उनके आयकर दायित्वों के भुगतान की व्यवस्था करना।

(viii) ग्राहकों की ओर से उनके पत्राधिकारी, प्रतिनिधि का कार्य करते हुए वायु तथा जल मार्ग से आवागमन हेतु आवश्यक पत्रको/दस्तावेजों की व्यवस्था करना।

7. अन्य कार्य

(i) विदेशी मुद्रा का क्रय विक्रय।

(ii) पर्यटक चैक, उपहार चैक जारी करना।

(iii) कीमती वस्तुओं को लॉकरों में संभालकर रखना।

(iv) नए शेयर, आदि के निर्गम पर अविक्रित अंश को खरीदने का आश्वासन देना तथा निजी आधार पर चुने हुए निवेशकों के बीच प्रतिभूतियों की बिक्री की व्यवस्था करना।

हमारी उपर्युक्त सूची से यह बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि बैंक अपने ग्राहकों को अनेक प्रकार की सेवाएं प्रदान करते है।

देश में आजकल चल रही उदारीकरण की प्रक्रिया में तो बैंकों को अनेक ऐसे कार्य करने को प्रोत्साहित किया जा रहा है जिन्हें परंपरा से व्यावसायिक बैंकों का कार्य नहीं माना जाता था। इनमें विकास बैंकिंग और बीमा व्यवसाय को सामान्य बैंक कार्यों से जोड़ना सम्मिलित है। हमारा निम्नांकित चित्र 7.1 व्यवसायिक बैंकों के कार्यों का एक व्यवस्था चित्र है:

केंद्रीय बैंक

केंद्रीय बैंक देश की मौद्रिक व्यवस्था का सिरमौर होता है। देश की मौद्रिक नीतियों की रचना और नियंत्रण ही उनका प्रमुख दायित्व होता है। भारत का केन्द्रय बैंक भारतीय रिजर्व बैंक है।

केंद्रीय बैंक के कार्य इस प्रकार है-

1. करेंसी या मुद्रा निर्गमन का अधिकार

केंद्रीय बैंक देश में मुद्रा जारी करने का एकाधिकारी होता है। यह सारी मुद्रा वैधानिक दृष्टि से केंद्रीय बैंक की मौद्रिक देयता मानी जाती है। दूसरे शब्दों में केंद्रीय बैंक पर सारी निर्गमित मुद्रा के समतुल्य मान की संपतियों का सुरक्षित भंडार रखने का दायित्व होता है। इन संपत्तियों में सोना, चांदी, इनके बने सिक्के, विदेशी मुद्रा और प्रतिभूतियां तथा राष्ट्रीय सरकार की स्थानीय मुद्रा में निर्दिष्ट प्रतिभूतियां सम्मिलित रहती हैं।

देश की केंद्रीय सरकार को केंद्रीय बैंक से उधार पाने का अधिकार होता है। इसी अधिकार
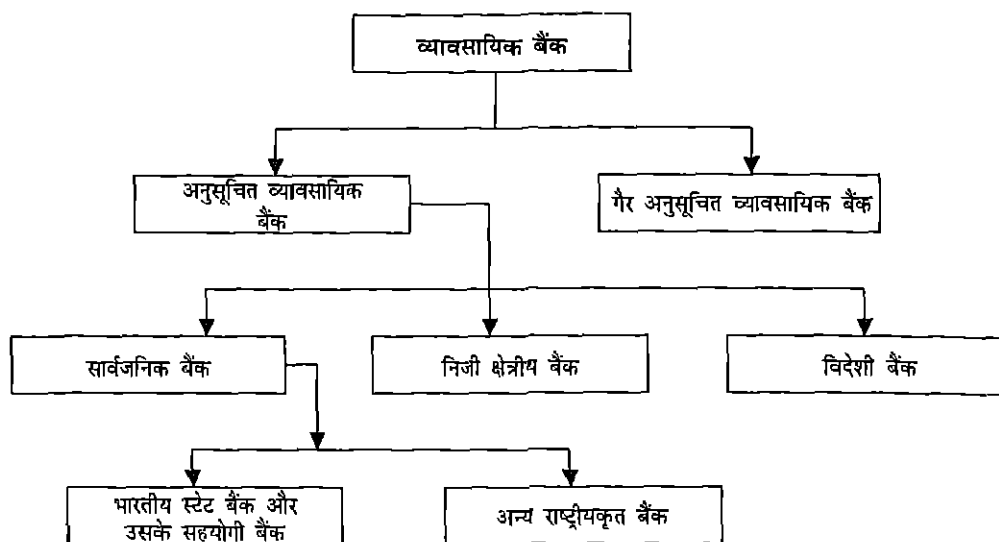
चित्र 7.1: व्यावसायिक बैंकों का एक व्यवस्थित वर्गीकरण

का प्रयोग कर सरकार स्थानीय मुद्रा में निर्दिष्ट अपनी प्रतिभूतियां केंद्रीय बैंक को बेच देती है। इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में मुद्रा की आपूर्ति में वृद्धि हो जाती है। कारण यही है, जब भी केंद्रीय बैंक इन प्रतिभूतियों की खरीदारी करता है, वह इनके मान के समतुल्य मुद्रा जारी कर देता है। सरकार का यह अधिकार उसे अपनी ऋण आवश्यकताओं का मौद्रीकरण करने की सुविधा प्रदान कर देता है। सरकार के ऋण का मौद्रीकरण उसके नए-पुराने सार्वजनिक ऋण को गैर-मौद्रिक देनदारी को केंद्रीय बैंक द्वारा निर्गमित मुद्रा में परिवर्तित कर उसे मौद्रिक देनदारी का स्वरूप प्रदान कर देता है।

मुद्रा को परिचलन में डालने या उससे निकालने का कार्य रिजर्व बैंक का बैंकिग विभाग करता है। उदाहरणत: सरकार ने अपने बजट में घाटा दर्शाया है। उसे पूरा करने के लिए यह केंद्रीय बैंक से उधार लेती है। यह उधार राजकोषीय हुंडियां केंद्रीय बैंक को बेचकर लिया जाता है। बैंक इन हुंडियों का भुगतान अपने पास मौजूद मुद्रा भण्डार में कमी करके या फिर नई मुद्रा छाप कर करता है। इस प्रकार मिले नोटों के नए बंडल खर्च करके सरकार उन्हें परिचलन में डाल देती है।

2. सरकार का बैंकर

केंद्रीय बैंक संघ एवं राज्य सरकारों का बैंकर होता है। यह उनके सारे बैंक संबंधी कार्य निपटाता है तथा सरकार भी अपने सारे चालू खाते के नकद कोष केंद्रीय बैंक के पास जमा रखती है।

सरकार के बैंकर के रूप में केंद्रीय बैंक उसकी ओर से भुगतान स्वीकार करना, भुगतान करना, और विनिमय लेन-देन आदि के बैंकीय कार्यों का संपादन करता है। कई बार सरकार की प्राप्तियां उसकी तात्कालिक देनदारियों से कम रह जाती हैं। इस दशा में केंद्रीय बैंक ही उसे अल्पावधि ऋण प्रदान करता है। यह ऋण भी राजकोषीय हुंडियों की बिक्री के माध्यम से ही दिए जाते हैं। अस्थायी या तदर्थ राजकोषीय हुंडिया के माध्यम से अल्पावधि ऋण

प्राप्त करने का कार्य तो सरकारें सामान्य रूप से करती रहती हैं (यह कोई विशेष घटना नहीं होती)।

सरकार के बैंकर के रूप में केंद्रीय बैंक ही सार्वजनिक ऋण के प्रबंधन का दायित्व निभाता है। इसका अर्थ है कि केंद्रीय सरकार द्वारा जारी किए जाने वाले सभी ऋण पत्रों का प्रबंधकीय कार्य यही बैंक करता है। यह सरकार को ऋण के आकार, समय और अन्य शर्तों के विषय में उचित परामर्श देता है। अभी तक वर्तमान सार्वजनिक ऋण संबंधी सेवाएं (समय पर ब्याज तथा मूलधन की वापसी करना तथा सरकारी प्रतिभूतियों के बाज़ार का परिपोषण भी इसी का कार्य है। इसी दृष्टि से केंद्रीय बैंक प्रतिभूति बाज़ार को सुचारू रूप से चलाए रखने, उसमें विभिन्न परिपक्वता की प्रतिभूतियों की आपूर्ति बनाए रखने के साथ-साथ नई प्रतिभूतियां खरीद पाने योग्य तरलता (नकदी) अपने पास तैयार रखने के कार्य करता है।

केंद्रीय बैंक सरकार को बैंकिंग और वित्तीय मामलों में परामर्श भी देता है।

3. बैंकों का बैंक तथा पर्यवेक्षक

बैंकों के बैंक के रूप में रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के नकदकोषों के एक अंश को अपने पास सुरक्षित रखता है, उन्हें अल्पावधि के लिए नकदी देता है और उन्हें केन्द्रीकृत समाशोधन और धनविप्रेषण सुविधाएं प्रदान करता है। बैंको को अपनी निवल देयताओं के एक निश्चित अंश के समान राशि केंद्रीय बैंक के पास जमा रखनी पड़ती है (इसे नकद जमा अनुपात कहते हैं)। इस प्रावधान के पीछे इसे मौद्रिक और साख नियंत्रण के अस्त्र के रूप में प्रयोग करने का मन्तव्य ही प्रमुख रहा है। बैंक इसके अतिरिक्त भी कुछ न कुछ अधिक राशि केंद्रीय बैंक के पास जमा रखते हैं ताकि अप्रत्याशित समाशोधन तथा उनके अपने ग्राहकों द्वारा अतिशय आहरण से संभावित कठिनाइयों से निपटा जा सके। इस प्रकार जमा कोष का प्रयोग कर केंद्रीय बैंक अंतिम ऋणदाता के रूप में उन बैंकों को उधार दे पाता है जिन्हें आवश्यकता हो। वैसे अल्पावधि साख की आवश्यकता वाले बैंकों से यही आशा की जाती है कि वे पहले अविलम्ब राशि बाज़ार आदि से काम चलाने का प्रयास करें, केंद्रीय बैंक के पास तो सबसे अंत में जाएं (तभी तो इसे अंतिम उधारदाता कहते हैं)।

केंद्रीय बैंक सभी व्यावसायिक बैंकों के कार्यों का पर्यवेक्षण, नियमन और नियंत्रण भी करता है। इस नियमन में बैंकों को लायसेन्स जारी करने, शाखाओं के विस्तार, परिसंपत्तियों की तरलता, प्रबंधन, विलय और परिसमापन (बैंक को बंद करना) आदि कार्य सम्मिलित रहते हैं। नियंत्रण कार्य के लिए केंद्रीय बैंक समय-समय पर बैंकों द्वारा जमा कराये गए परिपत्रों तथा अपने निरीक्षकों की रपटों का सहारा लेता है।

4. मुद्रा की आपूर्ति तथा साख का नियंत्रण

केंद्रीय बैंक अर्थव्यवस्था के बृहत्तरहितों में मुद्रा और साख की आपूर्ति को नियंत्रित करता है। इस कार्य के लिए उसके पास कई नीति अस्त्र या माध्यम उपलब्ध रहते हैं। इन अस्त्रों को परिमाणात्मक एवं गुणात्मक नीति अस्त्र कहा जाता है। आइए, पहले 'चर' विशेष के परिमाण को प्रभावित करने वाले परिमाणात्मक नीति अस्त्रों पर विचार करें:

1. *बैंक दर नीति:* यह ब्याज की वह दर है जिस पर अंतिम ऋणदाता (केंद्रीय बैंक) अन्य बैंकों को अनुमोदित या अन्य प्रतिभूतियों की जमानत पर उधार देता है। इस दर में परिवर्तन का अर्थ है केंद्रीय बैंक से नकदी पाने की लागत में परिवर्तन। इस दर की वृद्धि का अर्थ है केंद्रीय बैंक से उधार की लागत में वृद्धि। इसके कारण बैंकों की साख निर्माण कर मुद्रा आपूर्ति बढ़ाने की क्षमता कम रह जाती है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है: बैंक दर में

वृद्धि होने पर व्यावसायिक बैंक भी अधिक ऊँची ब्याज दर पर उधार देना चाहेंगे। इस कारण, व्यवसायी पहले की अपेक्षा कम उधार लेकर ही काम चलाने का प्रयास करने लगेंगे। परिणामत: बैंक साख की मांग में कमी आ जाएगी। इसके विपरीत बैंक दर में कटौती का प्रभाव एकदम उलटा होगा। व्यवहार में बैंक दर नीतियों की प्रभावोत्पादकता इन कारकों पर निर्भर करती है: (क) बैंकों की उधार लिए गए कोषों पर निर्भरता (यह धनात्मक कारक है), (ख) बैंकों की उधार कोषों के लिए मांग की उनके द्वारा वसूली गई ब्याज दर तथा चुकाई गई दर के अंतर के प्रति संवेदनशीलता (यह भी एक धनात्मक कारक होगा), (ग) बाज़ार में अन्य ब्याज दरों में आये परिवर्तन, तथा (घ) अन्य स्रोतों से नकदी की मांग और आपूर्ति में हुए परिवर्तन।

2. *खुले बाज़ार की प्रक्रियाएं:* यह केंद्रीय बैंक द्वारा अपने विवेक से खुले बाजार में आम जनता तथा बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री या उनसे इनकी खरीदारी होती है। विश्लेषण की दृष्टि से जनता या बैंकों को बिक्री में कोई अंतर नहीं होता, क्योंकि अंततः किसी बैंक के पास जमा धन राशि का एक अंश रिजर्व बैंक के पास पहुँच जाता है। बैंकों को इन सरकारी प्रतिभूतियों की बिक्री से उनके सुरक्षित कोष कम हो जाते है। बैंकों द्वारा प्रतिभूतियों के निमित्त जारी चैकों की राशि उनके सुरक्षित कोष खाते से घटा दी जाती है। इससे बैंको की साख प्रदान कर मुद्रा की आपूर्ति बढ़ा पाने की क्षमता कम हो जाती है। जब, इसके विपरीत, केंद्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों से प्रतिभूतियां खरीदता है तो उन्हें भुगतान स्वरूप अपने चैक प्रदान करता है, उससे बैंको के सुरक्षित कोषों में वृद्धि होती है। यह वृद्धि प्रत्यक्षतः उनकी साख दे सकने की क्षमता को बढ़ाकर मुद्रा आपूर्ति में वृद्धि करने में सहायक हो जाती है। मौद्रिक नीति के अस्त्र के रूप में यह खुले बाजार की प्रक्रियाएं तभी पूरी तरह सफल हो पाती हैं जब देश में उन प्रतिभूतियों का सक्रिय रूप से कार्यरत् बाज़ार विद्यमान हो। यदि बैंक नियमित रूप से अतिरिक्त तरल कोष अपने पास जमा रखते हों तो इस नीति की प्रभावोत्पादकता बहुत संदेहास्पद हो जाएगी। दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमरीका जैसी विकसित अर्थव्यवस्थाओं में बैंकों के पास अतिरिक्त तरलता बनी रहती है- वे इसी से प्रतिभूतियां खरीदते हैं और बाद में इन्हें बेचकर प्राप्त राशि को इसी अतिरिक्त कोष में डाल देते हैं। वहां भी ये खुले बाज़ार की प्रक्रियाएं प्रभावी नहीं हो पातीं।

3. *सुरक्षित कोष अनुपातों में परिवर्तन :* बैंकों को दो प्रकार के सुरक्षित कोष अनुपात बनाए रखने होते हैं। एक तो रिजर्व बैंक के पास *जमा नकद कोष* होता है (CRR)। दूसरे को *वैधानिक तरलता अनुपात (SLR)* कहा जाता है। नकद जमा अनुपात की राशि तो उन्हें केंद्रीय बैंक के पास नकद रूप में जमा करानी होती है। यह उनकी निवल मांग एवं सावधि देनदारियों का एक अनुपात होती है। इसमें परिवर्तन मौद्रिक और साख नियंत्रण का नीतिअस्त्र है। इस अनुपात की वृद्धि से बैंकों के पास उपलब्ध नकदी कम हो जाती है, वे अधिक उधार नहीं दे पाते। इस अनुपात में कटौती बैंकों के पास उपलब्ध नकदी को बढ़ाकर उन्हें अधिक साख का सृजन करने में समर्थ बना देती है।

वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) बैंकों को अपनी मांग और सावधि देयताओं के एक अंश को मान्य परिसंपत्तियों में लगाने को बाध्य करता है। इनमें

सम्मिलित हैं: (क) अतिरिक्त नकद, (ख) ऐसी सरकारी एवं अन्य प्रतिभूतियां जिनके आधार पर केंद्रीय बैंक से ऋण नहीं लिए गए हों, तथा (ग) अन्य बैंकों के पास चालू खातों में जमा राशियां। इस अनुपात में परिवर्तन बैंकों की सरकारी प्रतिभूतियों को बेचने का उनके आधार पर केंद्रीय बैंक से उधार ले पाने की स्वतंत्रता को प्रभावित करते हैं। इससे उनकी साख सृजन क्षमता, और परिणामत: मुद्रा की आपूर्ति पर प्रभाव पड़ता है। SLR की वृद्धि से साख सृजन क्षमता में कमी आती है।

आइए, अब हम *गुणात्मक साख नियंत्रण* नीति अस्त्रों पर भी कुछ विचार करें। ये साख के वैकल्पिक उपयोगों के बीच आबंटन को प्रभावित करते हैं।

1. *प्रतिभूती ऋणों पर उधार-प्रतिभूति अंतर लागू करना:* यह उधार प्रतिभूति अंतर ऋण की राशि और ऋणकर्ता द्वारा प्रस्तुत प्रतिभूतियों के बाजार मूल्य का अंतर होता है। यदि केंद्रीय बैंक 40% अंतर का आग्रह करता है तो व्यवसायी बैंक प्रतिभूतियों के मूल्य के 60% के समान ही उधार दे पाते हैं। इस प्रकार इस प्रतिभूति अंतर में परिवर्तनों के माध्यम से बैंकों द्वारा दिए जा रहे प्रतिभूति ऋणों की राशियां प्रभावित होती हैं। यह नीतिअस्त्र अनेक प्रकार से उपयोगी होता है। उच्च प्रतिभूति अंतरों से सट्टेबाजी पर अंकुश लगता है, बैंक साख का प्रयोग सट्टे की बजाय उत्पादक निवेश में अधिक हो पाता है। सट्टेबाजी में कमी से बाजार में प्रतिभूतियों की कीमतों के अनावश्यक उतार-चढ़ाव भी कम हो जाते हैं।
2. *नैतिक प्रबोधन :* यह केंद्रीय बैंक द्वारा अन्य बैंकों से अपनी नीतियों का अनुपालन कराने की दृष्टि से किए गए उपदेशों और दबावों का मिला जुला स्वरूप है। इसे विचार विमर्श, पत्रों, अभिभाषणों तथा बैंकों को संकेतात्मक संदेशों के माध्यम से व्यवाहारिक रूप दिया जाता है। केंद्रीय बैंक समय-समय पर अपनी नीतिगत स्थिति की घोषण कर बैंकों से उसके अनुरूप कार्य करने की अपेक्षा करता है। यह नैतिक प्रबोधन साख नियंत्रण के परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों स्वरूपों के लिए प्रयुक्त हो सकता है।
3. *चयनात्मक साख नियंत्रण:* इनका प्रयोग भी सकारात्मक एवं निषेधात्मक स्वरूपों में हो सकता है। सकारात्मक प्रयोग विशेष क्षेत्रकों को अधिक साख सुलभ करा सकता है। (मुख्यत: वरीयता क्षेत्रों को) इनके निषेधात्मक प्रयोग में किन्हीं कार्यों के लिए साख दिए जाने पर पूरी रोक भी लगाई जा सकती है।

बैंक और मौद्रिक नीति: नूतन घटनाक्रम

भारत में पिछले दशक से चल रहे समष्टि घटनाक्रम पर विचार करें। अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक सुधार कार्यक्रमों का सरकार की मौद्रिक नीतियों पर भी प्रभाव पड़ा है। इनका एक महत्वपूर्ण अंग है ब्याज दरों में कमी कर धीर-धीरे सारी अर्थव्यवस्था की ब्याज दर संरचना को न्यून दर संरचना में परिवर्तित करना। इसका कारण यही बताया जा रहा है कि भारत में मौद्रिक ब्याज दरें बहुत ऊँची रही हैं और न्यून स्फीति दर के कारण तो वास्तविक ब्याज दर बहुत ही अधिक हो जाती है। परिणामस्वरूप वास्तविक उत्पादक पूँजी में निवेश हतोत्साहित होता है। फिर भी अनेक क्षेत्रों में यह संदेह व्यक्त हो रहा है कि ब्याज दरें कम करने के पीछे सरकार का वास्तविक ध्येय कुछ और ही है। सरकारी ऋणों पर ब्याज और उनके भुगतान का भार अप्रत्याशित स्तरों तक पहुँच चुका है। सरकार अब उस स्थिति में फंस चुकी है जहाँ उसे उत्पादक या विकास कार्यों के वित्तीयन के लिए नहीं बल्कि पुराने ऋणों का भुगतान कर पाने के लिए नए ऋण लेने पड़ रहे हैं। यदि ये नए ऋण पुराने मूलधन को चुकाने के लिए ही लिए जा रहे

हों तो चिंता नहीं होती– किंतु यदि पुराने ऋणों के ब्याज चुकाने के लिए भी नए ऋणों की आवश्यकता हो जाए तो इसे लोक वित्त की अति विषम स्थिति ही कहा जाएगा। वैसे ब्याज दर कम होने पर सरकारी कोष की स्थिति में सुधार आ सकता है। सरकार अधिक नए सस्ते ऋणों द्वारा पुराने मंहगे ऋणों को चूकता कर सकती है। भविष्य में सरकार का ब्याज का बोझा भी कम हो जाएगा। यही नहीं, न्यून ब्याज दरों से शेष अर्थव्यवस्था में उत्पादक निवेश को भी बढ़ावा इस नीति का अतिरिक्त लाभ होगा।

सरकार ने बैंकिंग व्यवस्था में भी संरचनात्मक सुधारों के अनुरुप व्यापक सुधार आरंभ किए हैं। 1991 और 1998 की नरसिम्हन समिति रिपोर्टों के अनुसार इन सुधारों का मुख्य संबल अत्यधिक ऊँची CRR और SLR को कम कर बैंकों की साख क्षमता में वृद्धि, ब्याज दरों में पहले कटौती और अंततः उन्हें नियंत्रण मुक्त करना, बैंकों की कार्य दक्षता को बढ़ाने हेतु उन्हें कार्य संपादन में स्वायत्तता प्रदान करना, विदेशी बैंकों को भारत में अपनी शाखाएं और सहायक कंपनियां स्थापित करने देना तथा सरकारी निर्देशानुसार तथा कथित वरीयता क्षेत्रों को सस्ता ऋण प्रदान करने के दायित्वों से मुक्त करना रहा है (इससे बैंक अपने साख संसाधनों का व्यावसायिक आधार पर आबंटन कर सकेंगे)।

सार संक्षेप

- अर्थव्यवस्था में मुद्रा का मुख्य कार्य वस्तुओं और सेवाओं के लेन–देन को सरल बनाना है, अर्थात व्यापार में लगने वाले समय और परिश्रम को कम करना।
- 'वस्तुओं का वस्तुओं' से व्यापार वस्तु विनिमय कहलाता है।
- बड़े समूहों में वस्तु विनिमय बहुत दु:साध्य हो जाता है। किसी सामान्यत: स्वीकार्य वस्तु को विनिमय का माध्यम बनाना ही इस समस्या का एक निदान हो सकता है।
- वस्तु विनिमय में चार कठिनाइयां आती हैं और मुद्रा के चार कार्य उनमें से एक–एक का समाधान कर पाने में समर्थ है।
- मुद्रा की परिभाषा के लिए कानूनी और व्यवहारात्मक कसौटियों का सहारा लिया जा सकता है।
- मुद्रा के मौद्रिक मूल्यमान और वस्तु मूल्यमान के बीच संबंधों के आधार पर मुद्रा का वर्गीकरण हो सकता है।
- भारत में प्रबंधित कागज मुद्रा मान का प्रयोग होता है, जिसके लिए न्यूनतम सुरक्षित कोष के आधार पर नोटों का निर्गम होता है।
- मुद्रा की आपूर्ति किसी भी समय विशेष पर सभी प्रकार की मुद्राओं का उपलब्ध भण्डार होती है।
- उधार देने या निवेश करने के ध्येय से जनता से मांगने पर या चैक, धनादेश आदि के माध्यम से अंतरणीय जमाएं स्वीकार करने को ही बैंकिंग व्यवसाय कहा जाता है।
- बैंकों के दो आवश्यक कार्य जमा स्वीकार करना और ऋण देना हैं।
- केंद्रीय बैंक देश की मौद्रिक व्यवस्था का सिरमौर होता है। इसका प्रधान दायित्व देश की मौद्रिक नीति की रचना और उसका संचालन होता है।

अभ्यास

1. किसी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के मुख्य कार्य क्या होते हैं?
2. वस्तु विनिमय क्या है?
3. वस्तु विनिमय की कठिनाइयां क्या है?
4. मुद्रा के प्रयोग से वस्तु विनिमय की कठिनाइयों का किस प्रकार अंत हो जाता है।
5. मुद्रा की परिभाषा किस प्रकार की जाती है?
6. मुद्रा का वर्गीकरण कैसे होता है?
7. भारत में किस प्रकार की मौद्रिक व्यवस्था का अनुसरण होता है?
8. मुद्रा की आपूर्ति क्या होती है?
9. मुद्रा मापन के विभिन्न यंत्र क्या हैं?
10. बैंकिंग क्या होती है?
11. व्यावसायिक बैंकों के कार्य क्या होते हैं?
12. केंद्रीय बैंकों के कार्य क्या होते है?

परिशिष्ट 7.1 : तरलता अधिमान सिद्धांत

हमने पुस्तक के मुख्य अध्याय में केवल मुद्रा की आपूर्ति का अध्ययन किया है। यहां हम केंजीय संकल्पनाओं के अनुरूप मुद्रा की मांग की व्याख्या कर रहे हैं। केन्ज के अनुसार मुद्रा की (नकदी या 'तरलता') की मांग इन तीन कारणों या प्रेरणाओं के वश होती है:

1. विनिमय प्रयोजन

लोगों को दिन-प्रतिदिन लेन-देन के लिए कुछ तरल मुद्रा या नकदी की आवश्यकता होती है। मुद्रा ही तो विनिमय का माध्यम हैं। लोगों की आय और व्यय के बीच पूर्ण तारतम्य नहीं होता- इसी कारण उन्हें कुछ नकदी अपने पास रखनी पड़ती है। अर्थात् लोगों के पास किसी भी समय बिंदु पर नकदी की मात्रा उनकी तात्कालिक भुगतान विषयक आवश्यकता से भिन्न होती है। उदाहरणत: एक व्यक्ति को मासिक वेतन मिलता है किंतु दूध वाले का हिसाब उसे प्रत्येक सप्ताह करना पड़ता है- अत: उसे दूधवाले के साप्ताहिक भुगतान के लिए तो नकदी अपने पास रखनी ही पड़ेगी। यदि प्रत्येक समय बिंदु पर हमें अपनी भुगतान की आवश्यकता जितनी ही राशियां मिल रहीं होती तो हमें नकदी अपने पास रखने की कोई जरूरत नहीं रहती।

इस प्रकार विनिमय प्रयोजन के कारण धारित नकद राशि का मान निश्चित रूप से विनिमयों के मौद्रिक परिमाण पर निर्भर करेगा। सारे लेन-देनों का कुछ अंश ही वास्तविक वस्तुओं और सेवाओं से जुड़ा होगा। यदि हम ये मान लें कि सकल राष्ट्रीय उत्पाद का सकल लेन-देनों के मौद्रिक मान से अनुपात स्थिर रहता है तो हम जनसमुदाय जिस नकद राशि को लेन देन के ध्येय से अपने पास रखना चाहता है, उसे आय के स्तर पर निर्भर मान सकते हैं।

साथ ही नकदी की आवश्यकता वस्तुओं के कीमत स्तर पर भी निर्भर करती है। यदि किसी वस्तु की कीमत 50 रुपये से बढ़कर 100 रुपये हो जाए तो उसकी प्रत्येक इकाई के क्रय-विक्रय के लिए अब पहले से दुगुनी नकदी की आवश्यकता होगी। यही बात पूरी अर्थव्यवस्था की वास्तविक आय (Y = GNP) तथा औसत कीमत P पर भी लागू होगी। अत: हम कह सकते हैं:

$M_t = k(PY)$

यहां

M_t = मुद्रा की विनिमय प्रयोजन से मांग,

k = स्थिर अनुपात (GNP तथा सकल विनिमय के मान का)

P = कीमत स्तर

Y = वास्तविक GNP

यदि हम ये मान लें कि कीमत परिवर्तन के कारण तरलता की विनिमय मांग में समानुपाती परिवर्तन हो जाता है तो फिर हम उपर्युक्त तरलता मांग संबंध को इस प्रकार भी लिख सकते हैं;

$$M_t = Pk(Y)$$

इस मौद्रिक कोष मांग को वास्तविक कोष मांग में परिवर्तित करने के लिए हम दोनों ओर P द्वारा भाग भी दे सकते हैं। अत:

$$\frac{M_t}{P} = k(Y)$$

यह $\frac{M_t}{P}$ विनिमय हेतु वास्तविक तरलकोष की मांग को दर्शाता है।

2. पूर्वोपाय प्रयोजन

भविष्य में प्राप्तियों और व्यय की आवश्यकता को लेकर अनिश्चितता ही मुद्रा की पूर्वोपाय माग का आधार होती है। पूर्वोपाय के निमित्त रख छोड़ी गई नकदी लोगों को व्यय में अप्रत्याशित वृद्धि या प्राप्तियों में अनापेक्षित देरी से उत्पन्न स्थिति का सामना करने योग्य बनाती है। पूर्वोपायी प्रयोजन के कारण नकदी की मांग प्रत्यक्षतः आय के स्तर पर ही निर्भर रहती है। आय बढ़ने पर व्यक्ति इस ध्येय से भी पहले की अपेक्षा अधिक राशि सहेज कर रखना आरंभ कर देता है। हमारी विनिमय मांग तथा पूर्वोपाय तरलता मांग दोनों ही आय पर प्रत्यक्षतः निर्भर करती हैं। उन्हें एक साथ ही $\frac{M_t}{P} = k(Y)$ फलन द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है।

3. सट्टा प्रयोजन

यह मांग मुख्यतः सट्टेबाजी से लाभ उठाने के ध्येय से प्रेरित होती है। केंजीय चिंतन में बॉंड खरीदने वाला यह मानकर चल रहा है कि उसकी धारण अवधि में ब्याज दर में कोई विशेष वृद्धि नहीं होगी। भविष्य में ब्याज दर की अनिश्चितता ही व्यक्ति को नकदी अपने पास रख सट्टा खेलने को प्रेरित करती है। ब्याज दर और बाँड की कीमत में विलोम संबंध होता है। यही विलोम संबंध प्रायः सभी ऋण पत्रों पर लागू होता है।

बाँड खरीदने वाले ब्याज दर में गिरावट और बाँड के दामों में वृद्धि की आशा लगाए होते हैं। उनकी दृष्टि से वर्तमान ब्याज दर 'ऊँची' और बाँड कीमत 'नीची' होती है। जो बाँड को बेच नकदी अपने पास रखना चाहते हैं उनका ब्याज बाँड कीमत आकलन पहले वर्ग के बिल्कुल विपरीत होता है।

ब्याज दर का बहुत ऊँचा या नीचा मानने वालों के मन में 'ब्याज' की कोई सामान्य दर बसी होती है और वे वर्तमान बाज़ार दर की उसी से तुलना कर रहे होते हैं। अपनी-अपनी 'सामान्य दर' संबंधी धारणा के अनुसार ही लोग बाज़ार दर को ऊँची या नीची मान लेते हैं।

यदि लोगों को प्रतीत हो कि वर्तमान ब्याज दर सामान्य से काफ़ी ऊँची है तो उन्हें इसमें गिरावट आकर इसके सामान्य स्तर पर पहुँचने की आशा हो जाती है। अतः उच्च ब्याज दर पर लोग नकद की अपेक्षा बाँड धारण करना बेहतर मानेंगे। इससे उन्हें दोहरे लाभ की आशा होती है- एक तो उच्च ब्याज दर मिलती है दूसरे भविष्य में ब्याज दर गिरने पर बाँड की कीमत में पूँजीगत मूल्य वृद्धि के लाभ का भी सुयोग दिखाई देता है।

इसके विपरीत यदि लोग ब्याज दर को अधिक 'नीची' मान रहे हों तो वे इसमें वृद्धि (बाँड कीमतों में कमी) के प्रति आशावान हो जाते हैं। वे अपने पास नकदी रखना श्रेयस्कर मानते हैं। इस दशा में ब्याज का नुकसान तो होगा, पर वह ब्याज दर बढ़ने पर बाँड कीमतों में पूँजीगत मूल्य ह्रास से कम रहेगा। इस प्रकार उन्हें नकदी रखना ही 'सुरक्षित' लगता है।

अतः हम कह सकते हैं कि तरलता की सट्टा प्रयोजन मांग का ब्याज दर से विलोम संबंध होता है। अब हम इस संबंध फलन को इस प्रकार लिख सकते हैं:

$$M_{sp} = P.h(r)$$

यहां

M_{sp} = तरलता की सट्टा मांग

P = कीमत स्तर

h(r) = ब्याज का विलोम फलन दोनों ओर P से भाग देकर हमें वास्तविक सट्टा प्रयोजन मांग मिल जाती है:

$$m_{sp} = \frac{M_{sp}}{P} = h(r)$$

इस संबंध को हम चित्र परि.7.1 में दर्शा रहे हैं। ब्याज की दर अधिक होने पर लोग अपेक्षाकृत कम
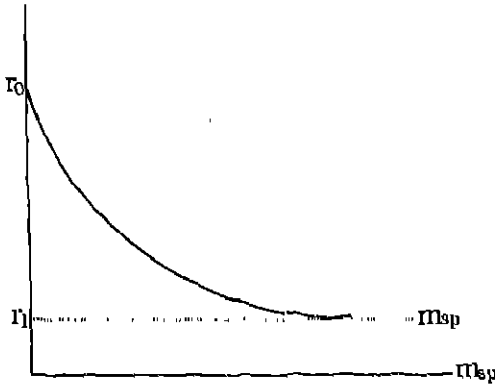
चित्र परि.7.1: वास्तविक कोष और ब्याज दर का संबंध

वास्तविक नकद कोष अपने पास तरल रूप में रखना चाहेंगे। किसी बहुत उच्च ब्याज दर r_0 पर लोग सट्टे के उद्देश्य से कोई नकदी अपने पास नहीं रखेंगे। उन्हें लगता है कि ब्याज दर अब गिरने ही वाली है। ऐसी दशा में कोई भी मुद्रा को बाँड से बेहतर नहीं मानता।

वक्र के दूसरे छोर के निकट तो मुद्रा की सट्टा प्रयोजन मांग ब्याज की दर के प्रति पूर्णतः लोचशील हो जाती है। ब्याज दर में मामूली से अनुपातिक परिवर्तन से ही सट्टा नकद कोष की मांग में बहुत भारी (विपरीत) बदलाव आ जाता है।

सभी लोग ब्याज दर को बहुत कम मानते हैं और उन्हें लगता है कि ये तो बस बढ़ने ही वाली है। इस दशा में बाँड धारण में उन्हें भारी पूँजीगत हानि की आंशका दिखाई देती है। (क्योंकि ब्याज दर वृद्धि से बांड कीमतें गिर जाती हैं)। अतः ऐसी न्यून ब्याज दर पर लोग बाँड नहीं नकदी ही अपने पास रखते हैं। मांग वक्र के इस पूर्णतः लोचशील अंश को ही केंजीय अर्थशास्त्र में *तरलता पाश* का नाम दिया गया है। यहां मुद्रा की आपूर्ति की सारी वृद्धि सट्टेबाजी में प्रयुक्त हो जाती है और उसका ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं होता।

मुद्रा की समग्र मांग (तरलता अधिमान)

मुद्रा की समग्र मांग का वास्तविक स्वरूप विनिमय, पूर्वोपाय और सट्टा प्रयोजनों से प्रेरित तरलता मांगों का योग होती है। अतः हम कह सकते हैं:

$$m_d = k(Y) + h(r)$$

किसी भी नियत कीमत पर आय (Y) के स्तर विशेष पर k से हमें m_t का मान ज्ञात हो जाता है। साथ ही प्रत्येक r स्तर पर m_{sp} का मान भी आकलित किया जा सकता है।

अतः k और h से हमें Y और r के प्रत्येक संयोजन पर मुद्रा की समग्र मांग का पता चल जाएगा। इसे हम चित्र परि. 7.2 में अंकित कर रहे हैं।

वक्र m_d को ही तरलता अधिमान वक्र का नाम दिया जाता है। यह ब्याज की विभिन्न दरों के अनुरूप नकद मुद्रा की मांग दर्शाता है। इस चित्र में r_0 ब्याज दर पर विनिमय एवं पूर्वोपाय मांग m_t तथा सट्टा मांग m_{sp} के समान है।
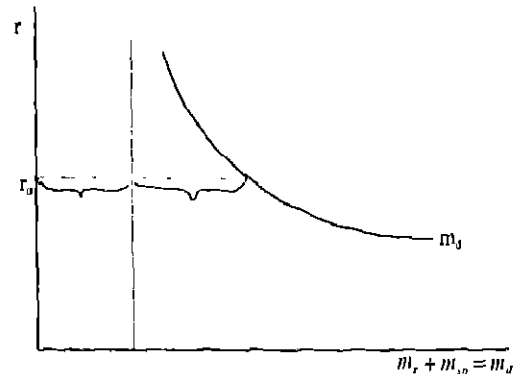
चित्र परि.7.2: तरलता अधिमान वक्र

परिशिष्ट 7.2 : मौद्रिक संतुलन और ब्याज दर

ब्याज की संतुलन दर का निर्धारण मुद्रा के मांग और आपूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेदन द्वारा होता है। मान लो की आपूर्ति का स्तर नियत है- अर्थात् अर्थव्यवस्था में मुद्रा का भण्डार निर्धारित स्तर m_s के समान है। फिर तो इस मुद्रा आपूर्ति और आय के स्तर के अनुरूप कोई न कोई ब्याज की दर अवश्य होगी जहां मुद्रा की विनिमय, पूर्वोपाय और सट्टा मांगों का योगफल उसकी आपूर्ति के समान होगा। मांग और आपूर्ति में समानता लाती यही ब्याज दर संतुलन ब्याज दर कहलाती है। इस ब्याज दर पर मुद्रा की आपूर्ति m_s मुद्रा की मांग m_d के समान होगी। इसी संतुलन को हम चित्र परि.7.3 में दर्शा रहे हैं।
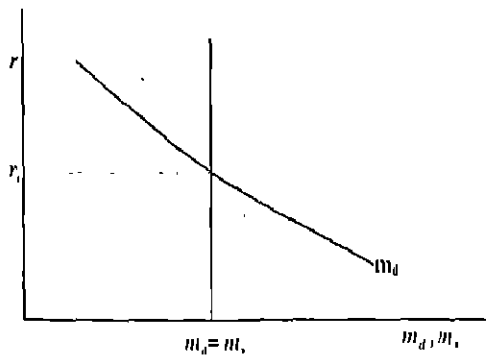
चित्र परि.7.3: *मौद्रिक संतुलन : ब्याज की संतुलन दर*

यहां मुद्रा की आपूर्ति को ऊर्ध्व सरल रेखा द्वारा दर्शाया गया है- क्योंकि यह ब्याज दर से अप्रभावित रहती है। मुद्रा बाज़ार ब्याज दर r_e पर संतुलन प्राप्त करता है, क्योंकि इस दर पर मुद्रा की समग्र मांग उसकी आपूर्ति के समान होती है।

मुद्रा की आपूर्ति में परिवर्तन से ब्याज दर भी परिवर्तित होगी। यदि आपूर्ति को m_s से बढ़ाकर m_{s1} कर दिया जाए तो इसके प्रभाव चित्र परि.7.4 में दर्शाए अनुसार होंगे। इसके कारण ब्याज दर r_0 से गिरकर r_1 हो जाएगी। यह गिरावट तभी संभव होती है जब अर्थव्यवस्था तरलता पाश से बाहर हो (जैसाकि हमारे चित्र में है)। यदि तरलता पाश की स्थिति में मुद्रा की आपूर्ति को बढ़ाया जाता है तो सारी अतिरिक्त आपूर्ति सट्टा मांग में ही फंस कर रह जाती है- ब्याज की दर पर कोई प्रभाव नहीं होता।

यदि मुद्रा की आपूर्ति को कम किया जाए तो उसके परिणामस्वरूप ब्याज दर में वृद्धि होगी। यह भी अर्थव्यवस्था तरलता पाश से बाहर होने की दशा में ही संभव है।
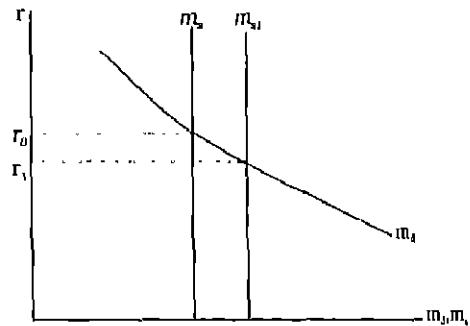
चित्र परि.7.4: ब्याज की दर और मुद्रा की आपूर्ति में परिवर्तन

परिशिष्ट 7.3 : व्यावसायिक बैंको के तुलन-पत्र

व्यावसायिक बैंक *वित्तीय मध्यस्थ* होते हैं। ये वित्तीय परिसंपत्तियों और मुद्रा का कारोबार (लेन-देन) करते हैं। इनके सांझे तुलन-पत्र से पहली दृष्टि में ही इनकी वित्तीय संपत्तियों के व्यवसाय में गहरी पैठ का अनुमान लग जाता है।

हमारी आगामी तालिका परि.7.1 में 31 मार्च, 2002 को भारत के व्यावसायिक बैंकों के सांझे तुलन पत्र को प्रस्तुत किया गया है। इसे देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक जमाओं की 'बिक्री' के माध्यम से ही अपनी अधिकांश धनराशि का संग्रह करते हैं और इनकी (धारित) परिसंपत्तियों में मुख्यत: (क) बैंक साख - उधार/ऋण अग्रिम तथा हुंडियों की खरीद और बट्टा, (ख) निवेश, तथा (ग) नकद होते हैं। बैंकों की परिसंपत्तियों और देयताओं की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार हैं:

देयताएं/देनदारियाँ

1. पूँजी और सुरक्षित निधि: ये बैंकों की अपनी धनराशियाँ होती हैं। चूकता पूँजी तो बैंक के स्वामियों, अर्थात अंशधारियों द्वारा एकत्र की गई राशि होती है। सुरक्षित निधि बैंक द्वारा अपने सारे कार्यकाल में अवितरित लाभों का योग होती है। इस निधि के संग्रह का ध्येय बैंक की पूँजीगत स्थिति को सुदृढ़ बना उसे अप्रत्याशित देयताओं और हानि आदि की स्थिति का सामना करने में समर्थ बनाना होता है। ये अपनी धनराशियां बैंकों के कारोबार में प्रयुक्त धनराशि का बहुत छोटा सा अंश ही होती हैं। वे मुख्यत: अन्य लोगों के रुपये का ही कारोबार करते हैं।

2. उधार: व्यावसायिक बैंक (सामूहिक रूप से) रिजर्व बैंक, औद्योगिक विकास बैंक, राष्ट्रीय ग्रामीण एवं कृषि विकास बैंक तथा अन्य गैर-बैंक वित्तीय संस्थाओं (यूनिट ट्रस्ट, सामान्य बीमा निगम, जीवन बीमा निगम, ICICI आदि) से उधार भी लेते रहते हैं। इन संस्थानों को कानूनी दृष्टि से बैंकों के मांग मुद्रा बाज़ार में अपनी संग्रहित धनराशियां लगाने की छूट होती है। बैंक आवश्यकतानुसार आपस में तथा अन्य संस्थानों से भी उधार ले लेते हैं।

परिसंपत्तियाँ

1. नकद: इसमें बैंक की अपनी तिज़ौरी में नकद और रिजर्व बैंक सहित अन्य सभी बैंकों के पास जमा करायी गई राशियाँ सम्मिलित हैं। रिजर्व बैंक के पास नकद जमा अनुपात की राशि जमा रखना तो वैधानिक अनिवार्यता ही होती है। इसके अतिरिक्त बैंक अपने खाते-धारियों की नकदी संबंधी जरूरतें पूरा करने के लिए भी कुछ न कुछ अतिरिक्त नकदी अपने पास रखते हैं।

2. अल्प अवधि मांग मुद्रा: यह मुख्यत: अन्य बैंकों, शेयर दलालों तथा वित्तीय संस्थानों को दिया गया ऋण ही है। इसकी अवधि 1 से 14 दिन होती है। इस प्रकार अपनी संग्रहित राशि का प्रयोग बैंक अपनी तरलता को दुष्प्रभावित किए बिना कुछ ब्याज कमाने के ध्येय से करते हैं।

3. हुंडिया : ये आंतरिक और विदेशी भी हो सकती हैं- इनका स्वरूप इसी बात पर निर्भर करता है कि बैंक को जिस फर्म से इनकी रकम प्राप्त करनी है वे देश में हैं या विदेश में। व्यापार में भेजे गए सामान का मूल्य चुकाने के दायित्व का स्वीकारोक्ति पत्रक भुगतान का एक सामान्य माध्यम होता है। इस पत्रक को जारी करने वाला व्यक्ति ऋणी और इसे स्वीकार

तालिका परि.7.1: 31 मार्च, 2002 को भारत के व्यावसायिक बैंकों का सम्मिलित तुलन-पत्र

	राशि (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत
देयताएं		
1. पूँजी	21497.18	1.40
2. सुरक्षित निधि और अतिरेक	62648.94	4.08
3. जमाएं	1202767.43	78.33
4. उधार (प्राप्त ऋण)	107178.82	6.98
5. अन्य देनदारियाँ	141420.76	9.21
कुल देयताएं	**1535513.13**	**100.00**
परिसंपत्तियाँ		
1. नकद व रिजर्व बैंक के पास जमा	86760.51	5.65
2. अन्य बैंकों तथा मांग पर प्राप्य राशियां	117518.25	7.65
3. निवेश	588058.29	38.30
4. ऋण एवं अग्रिम	645743.04	42.05
5. अचल पूँजी	20083.30	1.31
6. अन्य परिसंपत्तियाँ	77349.74	5.04
कुल परिसंपत्तियाँ	**1535513.13**	**100.00**

करने वाला ऋणदाता कहा जाता है। इसी पत्रक को व्यापारिक हुंडी का नाम दिया जाता है। यदि ऋणदाता को तुरंत नकदी की आवश्यकता हो तो वह अपने बैंक से हुंडी का बट्टा करा सकता है। बैंक उस हुंडी के अंकित मूल्य में से कुछ कटौती (कमीशन) काटकर शेष राशि अपने ग्राहक के खाते में जमा कर देता है। बाद में हुंडी की अवधि परिपक्व होने पर बैंक ऋणी व्यवसायी से उसका भुगतान वसूल कर लेता है। अतः भुगतान वसूली होने तक की अवधि में ये हुंडियां बैंकों की परिसंपत्तियां मानी जाती हैं।

हमारी निम्न तालिका भारत के अनुच्छेदित व्यावसायिक बैंकों की कार्य-कलापों की एक अच्छी झलक प्रस्तुत कर रही हैं। इससे आप को इनके दायित्वों और परिसंपत्तियों की सही जानकारी मिल जाएगी।

परिशिष्ट 7.4 : साख सृजन और जमाओ का बहुमुखी संवर्धन

आइए, अब मुद्रा की आपूर्ति में इसके एक घटक-बैंक जमा में परिवर्तन के कारण आए बदलाव पर विचार करें। बैंक में मांग जमा का यह परिवर्तन बैंक द्वारा साख सृजन का परिणाम है और प्राय: इसके कारण जमाओं में बहुगुणित परिवर्तन आ जाते हैं।

हम साख सृजन की प्रक्रिया की व्याख्या कुछ सरलीकरण करने वाली मान्यताओं के आधार पर करेंगे। इससे अनावश्यक विस्तार से बचे रहकर हम साख सृजन की प्रक्रिया को भली प्रकार समझ जाएंगे। ये मान्यताएं हैं:

1. बैंक सावधि जमा स्वीकार नहीं करते।
2. सभी बैंकों को 10% नकद जमा अनुपात का पालन करना होता है।
3. बैंक अतिरिक्त नकदी अपने पास जमा रखने को उत्सुक नहीं होते।
4. जन सामान्य के नकद धारण व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं आता अर्थात बैंक व्यवस्था से निवल रूप से नकद आहरण की प्रक्रिया नहीं चल रही।

ये चार मान्यताएं बैंक जमाओं के परिमाण और सुरक्षित कोष (निधि) के संबंधों का स्पष्टीकरण करने के लिए पर्याप्त रहती हैं। हम पाएंगे कि इन मान्यताओं के रहते जमाओं में तभी परिवर्तन आ पाएगा जब कि बैंकों द्वारा धारित नकद निधियों में कोई परिवर्तन आ जाए- अन्यथा नहीं।

रिजर्व बैंक अपनी दो नीतियों द्वारा नकद निधियों का विशेष रूप से निर्धारण कर देता है। पहली नीति तो बैंकों को नकद कोष उधार देने की है। इन्हें उधार मिला नकद कोष (या उधार) का नाम दिया जाता है। जब रिजर्व बैंक व्यावसायिक बैंकों को उधार देता है तो उनके नकद कोष में वृद्धि हो जाती है। रिजर्व बैंक द्वारा उधार कम करने से ये नकद कोष कम हो जाते हैं।

रिजर्व बैंक अपनी *खुले बाजार की प्रक्रिया* द्वारा भी बैंकों के पास उपलब्ध नकद कोष को प्रभावित कर सकता है। यह प्रक्रिया रिजर्व बैंक द्वारा खुले बाज़ार में प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय ही है। प्रतिभूति विक्रेता किसी बैंक में चैक जमा करता है और बैंक उसको भुगतान के लिए रिजर्व बैंक के पास ले जाता है। इस प्रकार प्रतिभूतियाँ खरीदकर रिजर्व बैंक नकद कोषों में वृद्धि कर देता है। यदि रिजर्व बैंक प्रतिभूतियां बेचना शुरू करे तो फिर बैंकों के पास उपलब्ध नकद कोषों का एक अंश रिजर्व बैंक के पास पहुँच जाता है-क्योंकि इस विनिमय में प्रतिभूति विक्रेता रिजर्व बैंक किसी न किसी बैंक से उस प्रतिभूति के मान का चैक भुनाता है और इस तरह कुछ नकदी बैंक की तिजौरी से निकलकर रिजर्व बैंक के पास पहुँच जाती है। अत: कुल मिलाकर व्यवसायी बैंकों के पास जमा नकद कोष में कमी आ जाती है।

आइए, इस प्रक्रिया को एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें। रिजर्व बैंक ने किसी व्यक्ति से 1000 रुपये की कोई प्रतिभूति खरीदी है। उस व्यक्ति को भुगतान स्वरूप 1000 रुपये का चैक दिया गया, जिसे उसने अपने बैंक में जमा करा दिया। आइए, अब इस जमा के प्रभाव की व्याख्या करें-

प्रथम बैंक में जमा प्रसार

इस बैंक A को रिजर्व बैंक द्वारा प्रतिभूति की खरीदारी के परिणामस्वरूप 1000 रुपये की नयी मांग

"बैंक A"		
परिसंपत्ति परिवर्तन		*देयता परिवर्तन*
नकद कोष	+ 1000 रुपये	मांग जमा +1000 रुपये
आवश्यक कोष	+100 रुपये	
अतिरिक्त कोष	+900 रुपये	

जमा मिल गयी है। जब वह चैक भुनाने के लिए रिजर्व बैंक के पास जाएगा तो रिजर्व बैंक उस बैंक के सुरक्षित निधि कोष में 1000 रुपये की जमा की प्रविष्टि कर देगा। परिणामस्वरूप बैंक के तुलन-पत्र में इस प्रकार के परिवर्तन आ जाएंगे:

हम जानते ही हैं कि नए जमा के 10% के समान नकदी रखना तो अनिवार्य होता है। इसीलिए शेष 900 रुपयों को हमने अतिरिक्त जमा कोष माना है- बैंक इसे इसी रूप में रखने का इच्छुक नहीं होता। वह इस राशि को किसी कमाऊ परिसंपत्ति का रूप देना चाहेगा। उसके समक्ष दो रास्ते होंगे- या तो वह कोई प्रतिभूति खरीद ले या फिर किसी को ऋण दे दे। मान लो कि बैंक ऋण देने का रास्ता अपनाता है। ऋणकर्ता के नाम का एक ऋण खाता खोल कर उसमें 900 रुपये जमा कर दिए जाते हैं। इस प्रकार बैंक द्वारा ऋण देने की क्रिया भी एक मांग जमा का सृजन कर देती है। मांग जमाओं को हम मुद्रा की आपूर्ति का हिस्सा मानते हैं। इसीलिए हम कहते हैं कि बैंक ऋण देते समय मुद्रा का सृजन करते हैं।

बैंक द्वारा उधार दिए जाने योग्य यह राशि उसके अतिरिक्त नकद कोष (900 रुपये)के समान ही है। अर्थात् अब बैंक A 900 रुपये का ऋण देकर इस राशि के समान मांग जमा की रचना कर देता है। मान लो कि उधार लेने वाले व्यक्ति ने, यह सारी रकम खर्च की, इस खर्च का भुगतान चैकों द्वारा किया, और वे सारे चैक किसी अन्य बैंक के पास जमा कराये गए।

अब बैंक A के खातों पर पड़े प्रभाव इस प्रकार होंगे:

अत: बैंक A ने मूलरूप से प्राप्त 1000 रुपये की राशि का दो भागों में समंजन कर लिया है: 100 रुपये नकद कोष में जोड़ दिए है और 900 रुपये कमाऊ परिसंपत्ति (ऋण) में बदल दिए हैं। अब उसके पास अतिरिक्त नकद नहीं है- अत: वह बैंक अब चैन की सांस ले सकता है।

किंतु क्या इसके साथ ही प्रारंभिक जमा के सारे प्रभाव स्पष्ट हो गए हैं? नहीं। अभी तो दूसरे बैंक B में जमा कराये गए 900 रुपये के चैकों की व्याख्या

"बैंक A"		
परिसंपत्ति में अंतर		*देयताओं में अंतर*
नकद कोष	+100 रुपये	मांग जमा 1000 रुपये
ऋण कोष	+900 रुपये	
आवश्यक नकद कोष	+100 रुपये	
अतिरिक्त नकद कोष	0 रुपये	

"बैंक B"

परिसंपत्ति परिवर्तन		देयता परिवर्तन
नकद कोष	+900 रुपये	मांग जमा +900 रुपये
आवश्यक नकद कोष	+90 रुपये	
अतिरिक्त नकद कोष	+810 रुपये	

होनी बाकी है। अब हमें इस जमा के प्रभाव समझने होंगें। यहां भी पहले वाला ही तर्क प्रयोग होगा।

मान लो कि बैंक A से उधार लेने वाले ने सारी राशि, 900 रुपये के चैक लिखे और वे बैंक B में जमा हो गए। अब बैंक B के तुलन-पत्र में इस प्रकार के परिवर्तन आएंगे:

यह बैंक B भी अपने अतिरिक्त कोष का कुछ लाभप्रद उपयोग करने का प्रयास करेगा और इसी प्रक्रिया में 810 रुपये का ऋण दे देगा। फिर तो यह भी अतिरिक्त कोष (810 रुपये) का निम्न समजंन कर शांत हो जाएगा:

बैंक B से उधार पाने वाला सारी राशि किसी अन्य बैंक में जमा करा देता है। वहां 810 की नई जमा का सृजन हो जाता है, उसे बैंक को भी केवल 81 रुपये नकद कोष में रखने आवश्यक लगते हैं। वह भी 729 रुपये आगे उधार दे देता है और अपने स्तर की कार्यवाही संपूर्ण मान लेता है।

इन सभी बैंकों की कारगुजारियों से एक चित्र उभरकर सामने आता है। प्रत्येक बैंक नई जमा के 10% के समान नकदी सुरक्षित कोष में जोड़ देता है और 90% को अतिरिक्त कोष मानकर उसे कमाऊ परिसंपत्ति बनाता हैं। यह प्रक्रिया चलती रहती है और प्रत्येक चरण में बैंक व्यवस्था के पास परिसंपत्तियों और मांग जमाओं में वृद्धि होती रहती है। हां एक बात अवश्य है- प्रत्येक चरण में यह वृद्धि पिछले दौर की अपेक्षा 10 प्रतिशत कम होती है। नई मांग जमा के 10 प्रतिशत को सुरक्षित कोष में रखने की अनिवार्यता ही अंततः समूची प्रसार प्रक्रिया के आकार को सीमित रख पाती है।

आइए, इस मांग जमा प्रसार प्रक्रिया को एक तालिका में समाहित करने का प्रयास करें (सभी आंकड़े रुपयों में हैं)।

यह चक्र तभी थमता है जब राशि अतिरिक्त कोष आवश्यक कोष में परिवर्तित हो जाती है। उस बिंदु पर मांग जमाएं 10000 रुपये हो जाती है- अर्थात मुद्रा की आपूर्ति में कुल मिलाकर 10000 की वृद्धि हो जाती है। आवश्यक कोष में 1000 की और सृजित साख में 9000 रुपये की वृद्धि हो जाती है।

ध्यान दें कि मांग जमाओं की कुल वृद्धि प्रत्येक दौर में हुई वृद्धियों का योगफल ही है। अर्थात् हम

"बैंक B"

परिसंपत्ति परिवर्तन		देयता परिवर्तन
नकद जमा	+90 रुपये	मांग जमा +900 रुपये
ऋण	+810 रुपये	
आवश्यक जमा	+90 रुपये	
अतिरिक्त जमा	0 रुपये	

तालिका परि.7.1 : साख सृजन और जमाओं का बहुमुखी संवर्धन

बैंक का नाम	अतिरिक्त जमा (मुद्रा वृद्धि)	अतिरिक्त ऋण (साख वृद्धि)	आवश्यक कोष
A	1000	900	100
B	900	810	90
C	810	729	81
D	729	656.10	72.9
E	656.10	590.49	65.61
F	590.49	531.44	59.05
G	531.44	478.3	53.14
-	-	-	-
-	-	-	-
-	-	-	-
-	-	-	-
योग	**10000**	**9000**	**1000**

1000 + 900 + 810 + 729 आदि को जोड़ रहे हैं। इस श्रृंखला की प्रत्येक कड़ी पहले वाली का 0.9 गुना है। यह भी एक ज्यामितिक श्रृखला $a + ar + ar^2$........ है, जिसमें $a = 1000$ तथा $r = 0.91$ इसके योग का सूत्र है:

$$a\left(\frac{1}{1-r}\right)$$

अपने उदाहरण की गणना करने पर हम पाते हैं कि इस सूत्र के अनुसार:

$$1000\times\left(\frac{1}{1-0.9}\right)=10000$$ यही हमारी तालिका का योगफल भी है।

दूसरे शब्दों में मांग जमाओं में प्रारंभिक जमा से 10 गुना वृद्धि हो गयी है।

प्रत्येक दौर में एक बैंक से दूसरे को नकद कोष अंतरित हो रहा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बैंक अन्य बैंकों से अपनी ओर जमा आकर्षित करने का प्रयास क्यों करते हैं। इस प्रयास में सफल बैंक की ऋण देने की क्षमता में वृद्धि होती है। एक बात पर और गौर करें। यह बहुगुणित जमा और साख वृद्धि का विचार समूची बैंक व्यवस्था के संदर्भ में लागू होता है। सभी बैंक (मिलकर) प्रारंभिक जमा के कई गुना जमा या साख का सृजन कर पाते हैं। एक अकेला बैंक तो अनिवार्य कोष राशि को अलग रख कर शेष राशि ही उधार दे पाता है। यह उधार राशि प्रारंभिक जमा का अल्पगुणन ही होती है। किंतु जब सभी बैंक इन अल्पगुणन राशियों को उधार देना प्रारंभ करते हैं तो कुल मिलाकर प्रारंभिक जमा से कई गुना मांग जमाओं और साख का निर्माण हो जाता है।

इकाई V

सरकारी बजट और अर्थव्यवस्था

अध्याय 8

सरकारी बजट और अर्थव्यवस्था

इस अध्याय में हमारा लक्ष्य सरकार के बजट की संरचना को समझना और उसकी शेष अर्थव्यवस्था से परस्परता व अर्थव्यवस्था पर प्रभावों की समीक्षा करना है। बजट सरकार का सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी वाला दस्तावेज होता है। बजट का एक भाग तो किसी कंपनी की वार्षिक रिपोर्ट से मिलता जुलता सा लगता है। इसमें पिछले बजट से लेकर सरकार की वित्तीय गतिविधियों और निष्पादन का विवरण होता है। दूसरे भाग में अगले बजट तक की अवधि के लिए सरकार की वित्तीय योजनाएं प्रस्तुत की जाती हैं। इस प्रस्तुति का उद्देश्य जन-सामान्य को जानकारी देना तथा विधायिका (संसद) की स्वीकृति प्राप्त करना होता है। केंजीय अर्थचिंतन के बाद से तो सरकार की बजटीय नीतियां अर्थव्यवस्था में स्थिरीकरण में बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान देने लगीं हैं।

बजट और इसके उद्देश्य

बजट एक वित्तीय वर्ष, जो 1 अप्रैल से अगले 31 मार्च तक चलता है, की अवधि में सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और व्यय का ब्यौरा होता है। सरकार अपनी गतिविधियों के माध्यम से अनेक नीतियों को क्रियान्वित करना चाहती है। इस क्रियान्वयन के लिए सरकार को कुछ व्यय करना पड़ता है तथा उस व्यय के लिए वित्तीय प्रबंध करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार वर्ष भर के व्यय और प्राप्तियों के अनुमानों को दस्तावेज होने के नाते बजट सरकार द्वारा अपनी नीतियों को मूर्तस्वरूप देने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन जाता है।

सरकार बजट के माध्यम से इन उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयास करती है-

1. *संसाधनों का पुन आबंटन:* यदि बाज़ार इस कार्य में विफल हो जाए या अकुशल सिद्ध हो रहा हो तो सरकार सामाजिक संसाधनों को बृहत्तर सामाजिक-आर्थिक हितों के अनुरूप पुन: आबंटित करने का प्रयास करती है।
2. *आय-संपत्ति का पुन वितरण:* सरकार आय और संपत्ति के पुन: वितरण के माध्यम से विषमताओं को कम करने का प्रयास करती है। इसके लिए सरकार सामाजिक सुरक्षा व्यवस्था, सहाय्यों तथा सार्वजनिक निर्माण आदि पर व्यय करती है।
3. *स्थिरिकरण संबंधी गतिविधियां:* सरकार व्यवसाय में अधिक उच्चावचनों को रोकने तथा उच्च रोज़गार व आय स्तर पर अर्थव्यवस्था को बनाए रखने के ध्येय से भी कार्य करती है (केंजीय नीतियाँ)।
4. *सार्वजनिक उद्यमों का प्रबंध:* सरकार अपनी कंपनियों के माध्यम से भारी विनिर्माण और कई अनेक प्रकार की प्राकृतिक एकाधिकारी व्यापारिक गतिविधियों के संचालन का दायित्व भी वहन

करती है। प्राकृतिक एकाधिकार उस अवस्था को कहते हैं जिसमें विशाल स्तर पर उत्पादन की मितव्ययताएं बहुत विराट होती हैं और इसी कारण से यदि एक ही फर्म इस कार्य में जुटी हो तो उत्पादन की औसत लागत न्यूनतम संभव स्तर पर पहुँच सकती है। इन उद्योगों में रेलवे, विद्युत उत्पादन आदि आते हैं। इन पर राजकीय नियमन अपरिहार्य माना जाता है, क्योंकि, अनियमित एकाधिकारी उत्पादन कम रख कर अधिकतम लाभ कमाने के लोभ का संवरण नहीं कर पाता (उस दशा में सामाजिक हितलाभों को ठेस पहुँचती है)।

बजट समाज को तीन स्तरों पर प्रभावित करता है। एक तो यह समग्र स्तर पर वित्तीय अनुशासन लागू करता है। इसका अर्थ है राजस्व के स्तर का पूर्व निर्धारण कर व्यय पर अंकुश रखना। यह उचित समष्टि स्तरीय निष्पादन के लिए आवश्यक भी है। दूसरे, बजट सामाजिक वरीयताओं के अनुरूप संसाधनों का आबंटन करता है। तीसरे, यह विभिन्न कार्यक्रमों और सेवाओं को प्रदान किए जाने का प्रभावी एवं कुशल माध्यम भी है। यहां प्रभावी से तात्पर्य यह कि कहां तक सरकार अपने लक्ष्यों या ध्येयों को प्राप्त कर पाने में सफल रहती है। कुशलता का अर्थ होगा कि प्रति इकाई प्रदान की गई सेवाओं और वस्तुओं की लागत 'न्यूनतम' रहे।

बजट के अवयव

प्रत्येक स्तर की सरकार की बजट की तैयारी, प्रस्तुति और उसके क्रियान्वयन की प्रक्रियाएं संविधान द्वारा नियत होती हैं। हम अपना सारा ध्यान केंद्रीय सरकार के बजट पर ही केंद्रित रख रहे है।[1] बजट को दो भागों में बांटा जाता है: राजस्व बजट तथा पूँजी बजट। राजस्व बजट में सरकार की राजस्व प्राप्तियों और उनके द्वारा पूरे किए गये खर्चों का वितरण होता है। इसी प्रकार पूँजी बजट में सरकार की पूँजीगत प्राप्तियों और भुगतानों की जानकारी रहती है। आइए, हम विभिन्न व्यय और प्राप्तियों का वर्गीकरण कर यह जानने का प्रयास करें कि ये मदें राजस्व और पूँजी बजट में किस प्रकार परिलच्छित होती हैं।

बजटीय प्राप्तियां[2]

सभी प्राप्तियों को दो वर्गों में बाँटा जाता है: राजस्व प्राप्तियां और पूँजीगत प्राप्तियां।

राजस्व प्राप्तियाँ

राजस्व प्राप्तियों के अपने दो उपवर्ग होते हैं *कर राजस्व* तथा *गैर-कर राजस्व।* कर राजस्व में संघीय सरकार द्वारा लगाए गए करों और शुल्कों से संग्रहित राशियां होती हैं। बजट में सरकार के नए कर पुराने करों की दरों आदि में संशोधन या उनके वर्तमान स्वरूप में जारी रखने के प्रस्ताव होते हैं। कर भी दो प्रकार के होते हैं- *प्रत्यक्ष कर* तथा *अप्रत्यक्ष कर*। प्रो. फिंडले शिराज ने उनमें इस प्रकार भेद किया है: प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिन्हें तुरंत ही व्यक्तियों की संपत्ति और आय पर लगाया जाता है तथा उपभोक्ता प्रत्यक्षतः सरकार को चुकाते हैं। आय कर, ब्याज कर, संपत्ति कर और निगम कर ऐसे ही प्रत्यक्ष करों के उदाहरण हैं। अप्रत्यक्ष कर व्यक्तियों की आय और संपत्ति को उनके उपभोग व्यय के माध्यम से प्रभावित करते हैं। सीमा शुल्क, उत्पादन शुल्क, बिक्री कर आदि अप्रत्यक्ष करों के उदाहरण हैं। इन अप्रत्यक्ष करों को उन वस्तुओं-सेवाओं पर लगाया जाता है जिनका लोग उपभोग करते हैं। अतः ये उपभोग की स्थिति में आय पर अप्रत्यक्ष रूप से लागू हो जाते हैं।

---

[1] केंद्र सरकार की ही भाँति राज्य सरकारें भी अपने बजट बनाती हैं।

[2] इस अनुच्छेद में हम बी.पी. त्यागी की पुस्तक *पब्लिक फाईनैंस*, जय प्रकाश नाथ एण्ड कंपनी, 1995 की सामग्री का प्रयोग कर रहे हैं।

प्रत्यक्ष कर आवश्यक रूप से चुकाने पड़ते हैं। उनसे बचा नहीं जा सकता। किंतु अप्रत्यक्ष कर वाले लेन-देन से दूर रहकर व्यक्ति उन करों से बचने का सफल प्रयास कर सकते हैं। उदाहरणतः बिस्कुटों पर लगे उत्पादन शुल्क से बचने का सबसे सरल उपाय है उनका उपभोग बंद कर देना।

गैर-कर राजस्व में सरकार की आय सभी राजस्व प्राप्तियां होती हैं। ये इस प्रकार की हो सकती हैं: व्यावसायिक राजस्व: सरकार द्वारा व्यापारिक आधार पर प्रदत्त वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें। इनमें डाक सामग्रियों की कीमतें, सभी टोल कर, सरकारी अधिकरणों से लिए गए ऋणों पर ब्याज, बिजली और रेल सेवाओं की प्राप्तियां आदि सम्मिलित हैं। राजस्व का एक और स्रोत सरकार द्वारा किए गए निवेशों पर अर्जित लाभांश और ब्याज होता है। सरकार के प्रशासकीय कार्यों से भी कुछ राजस्व एकत्र हो जाता है। इसमें सम्मिलित हैं: फीस, जो कि किसी जनहित में प्रदत्त सरकारी सेवा की लागत को पूरा करने में योगदान स्वरूप होती है। इस फीस को चुकाने वाले को कुछ निश्चित लाभाधिकार प्राप्त हो जाते हैं। जैसे कि किसी महाविद्यालय में फीस चुकाने वाले ही उसके छात्र हो सकते हैं। लायसेंस फीस/शुल्क किसी कार्य/गतिविधि के संपादन के लिए सरकार की अनुमति पाने के लिए चुकाई जाती है। इसमें वाहनों के पंजीकरण और आग्नेयशास्त्रों के धारण के लायसेंस की फीस शामिल होती है। जुर्माने और अन्य आर्थिक दण्ड किसी नियम का उल्लंघन करने पर देय होते हैं। कई बार न्यायालय किन्हीं अनुबंधों की शर्तों का उल्लंघन करने पर मूल प्रतिभूतियां जब्त करने के आदेश दे देते हैं। ये राशियां भी राजकोष में ही स्थानान्तरित हो जाती हैं। उत्तराधिकारियों से हीन व्यक्ति की बिना वसीयत किए मृत्यु होने पर उसकी संपत्ति सरकार के अधिकार में चली जाती है। इसे संपत्ति का *प्रत्यावर्तन* कहते हैं।

तालिका 8.1 में वर्ष 2002-03 के बजट के अनुसार भारत सरकार की राजस्व प्राप्तियां दर्शायी गई हैं:

तालिका 8.1 : संघ सरकार की राजस्व प्राप्तियां : बजट 2002 – 03

मद	राशि (करोड़, रुपयों में)
कर राजस्व	172965
गैर-कर राजस्व	72140
कुल राजस्व प्राप्तियां	245105

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

पूँजीगत प्राप्तियां

इनमें सबसे प्रमुख तो सरकार द्वारा जनता से लिया गया ऋण है– इसे बाज़ार ऋण का नाम दिया जाता है। इसी के साथ सरकार द्वारा भारतीय रिजर्व बैंक से तथा अन्य संस्थानों से राजकोषीय हुंडियों की बिक्री के माध्यम से लिए गए ऋण, विदेशी सरकारों एवं बहुराष्ट्रीय संस्थानों (विश्व बैंक, एशियन विकास बैंक) आदि से मिले ऋण, लघु बचत योजनाओं तथा सार्वजनिक भविष्य निधि कोष में जमा राशियां भी होती हैं। सरकार द्वारा दिए गए पुराने ऋणों की उगाही से हुई प्राप्तियां भी इसी खाते में दर्शाई जाती हैं। हम तालिका 8.2 में 2000-03 के बजट में दर्शायी गई भारत सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ दर्शा रहे हैं।

तालिका 8.2 : संघ सरकार की पूँजीगत प्राप्तियां: बजट 2002 – 03

मद	राशि (करोड़, रुपयों में)
ऋणों की वसूली	17680
अन्य प्राप्तियां (मुख्यतः सार्वजनिक उपक्रमों का विनिवेश)	12000
ऋण तथा अन्य देयताएं	135524
कुल पूँजीगत प्राप्तियां	165204

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

सरकारी व्यय

सरकार के व्यय को तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. राजस्व व्यय और पूँजीगत व्यय

राजस्व व्यय सरकारी विभागों के सामान्य संचलन, सरकार सेवाओं के प्रावधान, सहाय्यों और सरकारी ऋणों पर ब्याज आदि का योग होता है। सामान्यत: जिस व्यय से (सरकार के पास) किसी परिसंपत्ति का निर्माण नहीं हो उसे राजस्व व्यय कहा जाता है। यह ध्यान रहे कि यद्‌यपि केंद्र द्‌वारा राज्य सरकारों को दिए गए अनुदानों में से परिसंपत्तियों का निर्माण हो सकता है, किंतु इन्हें केंद्र सरकार का राजस्व व्यय ही माना जाता है।

पूँजीगत व्यय में मुख्यत: भूमि, भवन, यंत्र-संयंत्रादि और अंशादि में निवेश सम्मिलित है। साथ ही इसी मद में केंद्र द्‌वारा राज्यों, सरकारी कंपनियों और निगमों तथा अन्य संस्थानों को दिए गए ऋण भी दर्शाए जाते हैं।

2. योजना व्यय तथा गैर-योजना व्यय

योजना व्यय में वे तात्कालिक विकास और निवेश मदें सम्मिलित होती हैं जिन्हें वर्तमान योजना प्रस्तावों द्‌वारा निर्धारित किया जाता है। अन्य सभी व्यय गैर-योजना व्यय कहे जाते हैं।

हम तालिका 8.3 में 2002-2003 के बजट अनुमानों के अनुसार संघ सरकार के व्यय का वर्गीकरण दिखा रहे हैं।

तालिका 8.3 : संघ सरकार के व्यय का वर्गीकरण 2002 - 03 बजट अनुमान

क्रमांक	मद	राशि (करोड़ रुपये)
1.	ब्याज का भुगतान	1,17,390
2.	मुख्य सहाय्य	38,923
3.	प्रतिरक्षा व्यय	43,589
4.	राजस्व व्यय	3,40,482
5.	पूँजीगत व्यय	69,827
6.	योजना व्यय	1,13,500
7.	गैर-योजना व्यय	2,96,809
8.	कुल व्यय (6+7) या (4+5)	4,10,309

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

3. विकास व्यय तथा गैर-विकास व्यय

विकास व्यय में रेलवे, डाक एवं दूर संचार तथा गैर-विभागीय उपक्रमों के अपने आंतरिक स्रोतों तथा बाजार उधार और वित्तीय संस्थानों से सावधि उधार आदि गैर-बजटीय स्रोतों से योजना व्यय की वित्तीय व्यवस्था सम्मिलित है। इसमें केंद्र और राज्य सरकारों द्‌वारा गैर-विभागीय उपक्रमों, स्थानीय निकायों आदि को दिए गए ऋण भी शामिल रहते हैं।

गैर-विकास व्यय की मदों में प्रतिरक्षा, ब्याज भुगतान, कर संग्रह पुलिस और अन्य मदों प्रशासन आदि पर हुए खर्च रखे जाते हैं। अन्य व्ययों में सामान्य प्रशासन, पेंशन, पुराने राजाओं को अनुग्रह राशियां, अकाल सहायतार्थ, खाद्‌य एवं नियंत्रित कपड़ा सहाय्य, विदेशी सरकारों को ऋण और अनुदान तथा गैर-विकास कार्यों के लिए अन्य संस्थानों को दिए गए ऋण आदि सम्मिलित हैं।

तालिका 8.4: संघ, राज्य एवं संघ-शासित क्षेत्रों के व्यय का विभाजन: बजट 2001-02

क्रमांक	मद	राशि (करोड़ रुपये)
1.	विकास व्यय	369266
2.	प्रतिरक्षा व्यय (निवल)	62000
3.	ब्याज का भुगतान	144588
4.	कर संग्रह पर व्यय	8533
5.	पुलिस व्यय	24383
6.	अन्य व्यय	121045
7.	गैर-विकास व्यय (2+3+4+5+6)	360549
8.	कुल व्यय (1+7)	729815

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

तालिका 8.4 में संघ, राज्य और संघ-शासित सरकारों के व्यय (उनके सार्वजनिक उपक्रमों के आंतरिक एवं गैर-बजटीय संसाधनों सहित) के आंकड़ों

का विकास और गैर-विकास व्यय में विभाजन दिखाया गया है। ये आंकड़े 2001-02 के बजट पर आधारित हैं।

संतुलित, आधिक्यपूर्ण और घाटे वाले बजट

हमने बजट को वित्तीय वर्ष में सरकार की अनुमानित प्राप्तियों और व्ययों के ब्यौरे के रूप में परिभाषित किया है। अत: निम्न अवस्थाओं में बजट में आधिक्य, घाटा या संतुलन हो सकता है:

अनुमानों का सापेक्ष आकार	बजट का प्रकार
राजस्व < व्यय	घाटा
राजस्व = व्यय	संतुलन
राजस्व > व्यय	आधिक्य

आइए, सबसे पहले आधिक्यपूर्ण बजट पर चर्चा करें। आधिक्यपूर्ण बजट में अनुमानित राजस्व अनुमानित *व्यय से अधिक* होता है। आइए सरलता की दृष्टि से यह मान लें कि सारा राजस्व किसी एक-मुश्त कर द्वारा ही संग्रहित होता है। हमने अध्याय 6 में देखा था कि कर लगने से उपभोग में सीमांत उपभोग प्रवृत्ति गुणा कर की राशि जितनी कमी तुरन्त हो जाती है। अत: समग्र मांग में भी उतनी ही गिरावट आ जाती है। इसी प्रकार सरकार के व्यय के प्रभाव स्वरूप समग्र मांग में (उसके व्यय के समान) वृद्धि हो जाती है। अत: यदि कर राजस्व राजकीय व्यय से पर्याप्त अधिक हो तो एक ऐसी स्थिति आ सकती है जहां सीमांत उपभोग प्रवृत्ति गुणा कर राजस्व की राशि सरकारी व्यय से अधिक हो जाएगी। इस प्रकार कर के कारण समग्र मांग में कमी सरकारी व्यय के कारण वृद्धि से अधिक हो जायेगी। इस प्रकार एक आधिक्यपूर्ण बजट समग्र माँग को संकुचित कर देगा।

इस प्रकार से समग्र मांग को कम करना मांग के आधिक्य से पैदा हुई कीमत स्फीति पर नियंत्रण पाने की एक अच्छी नीति माना जाता है। किंतु अवस्फीति और मंदी की दशा में इस प्रकार की नीति पहले से ही कम मांग को और घटा कर स्थिति को और बिगाड़ देगी।

एक *संतुलित बजट* में अनुमानित राजस्व और अनुमानित व्यय समान होते हैं। एक बार फिर एक ही एक-मुश्त कर की व्यवस्था का उदाहरण अपना कर हम संतुलित बजट की व्याख्या कर सकते हैं। यहां भी समग्र मांग में कमी सीमांत उपभोग प्रवृत्ति गुना कर राशि होगी। कर की राशि पूरी व्यय हो जाती है। अत: मांग की यह कमी राजकीय व्यय गुणा MPC के भी समान होगी। किंतु समग्र मांग में वृद्धि सरकारी व्यय की सारी राशि के समान होती है। अत: व्यय के कारण समग्र मांग में वृद्धि कर के कारण आयी गिरावट से अधिक रहती है। कुल मिलाकर निवल प्रभाव के रूप में समग्र मांग में (1-MPC) गुणा सरकारी व्यय के समान वृद्धि हो जाती है। अत: एक आधिक्यपूर्ण बजट से समग्र मांग में कुछ वृद्धि होती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार संतुलन के निकट पहुँचने का प्रयास कर रही अर्थव्यवस्था को उसकी मंजिल तक पहुँचाने के लिए संतुलित बजट एक अच्छी नीति सिद्ध हो सकता है।

घाटेवाला बजट वह है जिसमें अनुमानित राजस्व अनुमानित व्यय से कम रह जाता है, अर्थात कर की राशि व्यय से कम है। यहां भी समग्र मांग में कमी कर गुणा MPC होगी। समग्र मांग वृद्धि तो सरकारी व्यय के ही समान रहेगी। अत: यदि कर व्यय की अपेक्षा पर्याप्त रूप से कम हो तो कर के कारण समग्र मांग की कमी व्यय के कारण हुई वृद्धि से कम रह जाएगी। परिणामस्वरूप समग्र मांग में वृद्धि होगी।

अत: घाटे का बजट अवस्फीति से ग्रस्त अर्थव्यवस्था की मांग के अभाव के कारण पैदा हुई अपूर्ण रोज़गार संतुलन की समस्या से निपटने की एक अच्छी नीति होगा।

घाटे के प्रकार

बजट के घाटे से जुड़ी चार अवधारणाएं हैं। इन्हें *बजट घाटा*, *राजस्व घाटा*, *प्राथमिक घाटा* और *राजकोषीय घाटा* कहा जाता है। आइए इन पर एक-एक कर विचार करें।

बजट घाटा

बजट घाटा सरकार के समस्त व्यय तथा उसके चालू राजस्व और निवल आंतरिक एवं बाह्य पूँजीगत प्राप्तियों के योगफल के अंतर को कहते है। इसके वित्तीयन के लिए निवल रूप से आंतरिक और बाह्य पूँजीगत प्राप्तियों की आवश्यकता पड़ती है। तालिका 8.6 में हम बजट घाटे का आकलन दिखा रहे हैं।

राजकोषीय घाटा

राजकोषीय घाटा सरकार के कुल व्यय (राजस्व व्यय + पूँजीगत व्यय + निवल ऋण दान) तथा उसकी कुल राजस्व प्राप्तियों तथा अंतिम रूप से सरकार को मिलने वाली (ऋण नहीं) पूँजीगत प्राप्तियों के योग का अंतर होता है।

राजकोषीय घाटा इस बात का प्रमाण है कि सरकार कहां तक अपनी चादर से बाहर पैर पसार रही है। यह सरकार की उधार लेने की जरूरत का अनुमान है। जितना अधिक राजकोषीय घाटा होगा सरकार को उतना ही अधिक ऋण लेना पड़ेगा । इससे भविष्य में सरकारी बजट पर ब्याज का भार बढ़ जाएगा। वर्तमान समय में राजकोषीय घाटा स्फीति की आग में घी का काम करता है।

प्राथमिक घाटा

राजकोषीय घाटे में से पुराने ऋणों पर ब्याज घटाने पर हमें प्राथमिक घाटे के आंकड़े प्राप्त होते हैं। इससे यह जानकारी मिलती है कि ब्याज से अतिरिक्त अपने और खर्चे चलाने के लिए सरकार को कितने उधार की आवश्यकता होगी। इसी से हमें यह जानकारी मिलती है कि वर्तमान सरकार की नीति पुरानी नीतियों से पैदा हुए बोझों को कहां तक बढ़ा या घटा रही है। इसे सामान्यत: राजकोषीय उत्तरदायित्वहीनता का मापक माना जाता है। दूसरे शब्दों में यह घाटा बताता है कि सरकार कहां तक अपनी फिजूल खर्ची के लिए उधार उठाती जा रही है। प्राथमिक घाटे में कमी या इसका शून्य प्राय: हो जाना इस बात का प्रमाण होगा कि सरकार अभी भी पुराने ऋणों का ब्याज चुकाने के लिए उधार लेने को बाध्य हो रही है- फिर भी यह अपना वित्तीय प्रबंधन सुधारने की आवश्यकता के प्रति सतर्क हो चुकी हैं।

राजस्व घाटा

राजस्व घाटा सरकार के राजस्व व्यय और राजस्व प्राप्तियों का अंतर होता है। यह सरकार द्वारा उधार लेने के कारणों पर ध्यान आकर्षित करता है। आइए, एक परिवार से तुलना करें। यहां राजस्व घाटे का अर्थ होगा कि पंसारी का बिल चुकाने के लिए कितना ऋण लेना पड़ गया। इस उधार में घर में एक और छत का निर्माण सम्मिलित नहीं होता। यदि राजकोषीय घाटे का आकार स्थिर हो तो कम राजस्व घाटा (अधिक की तुलना में) श्रेयस्कर होगा। यह धारा भविष्य में पुन:भुगतान के उस भार में वृद्धि का परिचायक होता है जिसके पीछे किसी निवेश द्वारा सृजित लाभ प्रवाह की कोई संभावना नहीं होती।

तालिका 8.5 में हम भारत के 2002-03 के बजट अनुमानों के अनुसार घाटे के विभिन्न मानों का आकलन दर्शा रहे हैं। सभी आंकड़े करोड़ रुपयों में दिए गए हैं।

बजटीय विनिमय तालिका का प्रयोग कर हम केंद्र, राज्य और संघ-शासित क्षेत्रों की सरकारों के समग्र बजटीय घाटे का आकलन तालिका 8.6 में कर रहे हैं।

तालिका 8.5 : घाटे के प्रकार
बजट अनुमान 2002-03

क्रमांक	मद		राशि (करोड़ रुपये)
1.	**राजस्व प्राप्तियां**		**245105**
	(i) कर राजस्व	172965	
	(ii) गैर-कर राजस्व	72140	
2.	**पूँजीगत प्राप्तियां**		**165204**
	(i) ऋणों की उगाही	17680	
	(ii) अन्य प्राप्तियां (मुख्यत: विनिवेश)	12000	
	(iii) ऋण और अन्य देयताएं	135564	
3.	**राजस्व व्यय**		**340482**
	(i) ब्याज भुगतान	117390	
	(ii) मुख्य सहाय्य	38923	
	(iii) प्रतिरक्षा व्यय	43589	
4.	**पूँजीगत व्यय**		**69827**
5.	**कुल व्यय**		**410309**
	(i) योजना व्यय	113500	
	(ii) गैर-योजना व्यय	296809	
6.	**राजकोषीय घाटा** [5 - 1 - 2 (i) - 2(ii)]		**135524**
7.	**राजस्व घाटा** [3 - 1]		**95377**
8.	**प्राथमिक घाटा** [6 - 3(i)]		**18134**

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

तालिका 8.6 : केन्द्र, राज्य, एवं संघ-शासित प्रदेशों का समग्र बजटीय घाटा
आधार: 2001-02 बजट अनुमान

क्रमांक	मद			राशि (करोड़ रुपये)
1.	**सकल व्यय**			**729815**
	(क) विकास व्यय			369266
	(ख) गैर विकास व्यय		360549	
	(i) प्रतिरक्षा (निवल)		62000	
	(ii) ब्याज भुगतान		144588	
	(iii) कर संग्रह व्यय		8533	
	(iv) पुलिस		24383	
	(v) अन्य		121045	
2.	**चालू राजस्व**			**476031**
	(क) कर राजस्व			371355
	(i) प्रतिरक्षा (निवल)		62000	
	(i) आय एवं निगम कर		84801	
	(ii) सीमा शुल्क		54822	
	(iii) संघ उत्पादन शुल्क		81720	
	(iv) बिक्री कर		81579	
	(v) अन्य		68433	
	(ख) गैर-कर राजस्व			104676
	(योजनाओं के लिए सार्वजनिक उपक्रमों के आंतरिक संसाधन)			(45100)
3.	**अन्तर (1 - 2)**			**253784**
	वित्तीयन किया गया:			
4.	**निवल पूँजीगत प्राप्तियाँ (क + ख)**			**248124**
	(क) आंतरिक (निवल)			245561
	(i) निवल बाजार ऋण		84410	
	(ii) निवल लघु बचत		11938	
	(iii) निवल राज्य एवं सार्वजनिक भविष्य निधि		31525	
	(iv) गैर-सरकारी भविष्य निधि कोषों में जमाएं		10500	
	(v) अन्य विविध पूँजीगत प्राप्तियाँ		107188	
	(ख) बाह्य			2563
	(i) निवल ऋण		1165	
	(अ) सकल		10763	
	(ब) घटा भुगतान		9598	
	(ii) अनुदान		698	
	(iii) आवर्ती कोष		700	
5.	**समग्र बजटीय घाटा (3 - 4)**			**5660**

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

अब हम बजट घाटे की चारों संकल्पनाओं की रचना को समझ चुके हैं। इस घाटे की पूर्ति किसी न किसी प्रकार करनी ही पड़ती है। सिद्धांत रूप से इस पूर्ति के दो मार्ग हो सकते हैं: मौद्रिक प्रसार और ऋण। मौद्रिक प्रसार का अर्थ होगा घाटे की राशि जितने नए नोट छापना। यह प्रक्रिया सरकार द्वारा राजकोषीय हुंडियों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण लेने के समान होगी। रिजर्व बैंक नकद रुपये देकर सरकारी हुंडियां खरीद लेता है- सरकार उस नकदी का प्रयोग अपना घाटा पूरा करने में कर लेती है। दूसरा विकल्प बाजार से उधार लेकर घाटे का वित्तीयन होगा। राजकोषीय घाटे की निरापद (सुरक्षित) सीमा सकल घरेलू उत्पाद के 5% के समान मानी जाती है।

सार संक्षेप

- बजट 1 अप्रैल से आगामी 31 मार्च तक की अवधि के वित्तीय वर्ष के लिए सरकार के अनुमानित व्यय और प्राप्तियों का वार्षिक ब्यौरा होता है।
- सरकार अपनी अनेक नीतियां बजट के माध्यम से क्रियान्वित करती है।
- बजट समग्र स्तरीय वित्तीय अनुशासन, संसाधन आबंटन और कार्यक्रमों-सेवाओं के प्रावधानों के माध्यम से अर्थव्यवस्था को प्रभावित करता है।
- बजट के दो भाग, राजस्व बजट और पूँजी बजट होते है।
- राजस्व को भी राजस्व प्राप्तियों तथा पूँजीगत प्राप्तियों में बांटा जा सकता है।
- व्यय के तीन प्रकार के वर्ग होते हैं : राजस्व बनाम पूँजी, योजना बनाम गैर-योजना तथा विकास बनाम गैर-विकास व्यय।
- बजटों की तीन श्रेणियाँ होती हैं: आधिक्यपूर्ण बजट, संतुलित बजट तथा घाटे वाला बजट।
- घाटे की तीन अवधारणाएं है: राजकोषीय घाटा, राजस्व घाटा तथा प्राथमिक घाटा।

अभ्यास

1. बजट क्या होता है?
2. बजट के उद्देश्य क्या होते हैं?
3. राजस्व की मदें कौन सी होती हैं?
4. कर तथा गैर-कर राजस्व की परिभाषा करें।
5. राजस्व बजट और पूँजी बजट का अंतर क्या है?
6. सार्वजनिक (सरकारी) व्यय का वर्गीकरण करें।
7. विकास और गैर-विकास व्यय में अंतर समझाएं।
8. गैर-योजना व्यय क्या होता है?
9. इनकी परिभाषा करें :
   (क) राजकोषीय घाटा
   (ख) बजट घाटा
   (ग) राजस्व घाटा
   (घ) प्राथमिक घाटा
10. घाटे का वित्तीयन किस प्रकार हो सकता है?

इकाई VI

भुगतान शेष

अध्याय 9

विदेशी विनिमय दर : इसका अर्थ और निर्धारण

किसी अर्थव्यवस्था की 'स्थिरता' के प्रमुख सूचकों में उसकी मुद्रा की विनिमय दर भी एक होती है। देश की आंतरिक मुद्रा की शेष विश्व की मुद्राओं की तुलना में 'शक्ति' का आकलन किया जाता है। निर्यात से आय और आयात का भुगतान तो विनिमय दर से प्रत्यक्ष रूप से ही प्रभावित होते हैं। अत: उन कारकों को समझना आवश्यक हो जाता है जिनका विदेशी विनिमय दर के निर्धारण पर प्रभाव रहता है। साथ ही इस दर के परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था पर प्रभावों की समीक्षा भी आवश्यक होगी। इस अध्याय में हम विदेशी विनिमय दर निर्धारण की व्याख्या कर रहे हैं।

अर्थ

विदेशी विनिमय दर का अर्थ एक देश की मुद्रा की अन्य देश की मुद्रा की इकाईयों में कीमत से होता है। यह वह दर है जिस पर किसी समय बिंदु पर देश के आयात-निर्यात का मूल्यांकन किया जाता है। विनिमय दर विश्वभर की मुद्राओं को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है- इसके माध्यम से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लागतों और कीमतों की तुलना संभव हो पाती है। इन्हीं दरों के आधार पर विश्व व्यापार की दिशा और प्रवाह का भी निर्धारण होता है।

विदेशी विनिमय बाज़ार

विदेशी विनिमय या मुद्रा बाज़ार वह बाज़ार है जिसमें विभिन्न देशों की मुद्राओं को परस्पर बेचा-खरीदा जाता है। बाज़ार तीन कार्य संपन्न करता है: देशों के बीच क्रय-शक्ति का अंतरण (अंतरण कार्य), विदेशी व्यापार के लिए साख स्रोत का प्रावधान (साख कार्य) तथा विदेशी विनिमय जोखिम से बचाव (जोखिम पूर्वोपाय कार्य)।

इन तीन कार्यों के संदर्भ में विदेशी विनिमय की मांग किसी देश के निवासियों की अन्य देशों की मुद्राओं के लिए मांग बन जाती है। जब लोग विनिमय बाज़ार में प्रवेश करते हैं तो अपनी आवश्यकता के संदर्भ में वे विदेशी मुद्रा बेचने या खरीदने के इच्छुक होते हैं।

विदेशी विनिमय बाज़ार के लेन-देनों की झलक देश के भुगतान शेष खाते में भी स्पष्ट दिखाई देती है। भारतीय नागरिकों द्वारा विदेशों में खर्च विदेशी मुद्रा बाज़ार को भारतीय रुपयों की आपूर्ति के समान है। उदाहरणत: एक भारतीय यदि जापान से कुछ खरीदता है तो वह रुपयों में ही भुगतान कर पाएगा। उसका यह खर्च (विदेशी मुद्रा) जापानी मुद्रा की मांग के समान होगा- क्योंकि जापानी विक्रेता तो अपनी चीजों के बदले येन में ही भुगतान की अपेक्षा करेगा। अत: भारतीय द्वारा खर्चे गए रुपयों को विदेशी विनिमय बाज़ार में येन से बदलना आवश्यक हो जाएगा।

इसी प्रकार विदेशों में भारतीय नागरिकों द्वारा कमाई गई आय भारत की विदेशी मुद्रा की कमाई के

समान होगी। भारत के निर्यातक अपने माल के लिए रुपयों में भुगतान चाहेंगे। अत: विदेशियों को भी हमारा माल खरीदने के लिए अपने-अपने देश की मुद्रा विनिमय बाज़ार में बेचकर रुपये प्राप्त करने पड़ते हैं। इस प्रकार विदेशी मुद्रा भारत में प्रविष्ट हो पाती हैं।

मांग और आपूर्ति पक्ष

यह तो हम पहले बता चुके हैं कि विनिमय बाज़ार में लोगों की लेन-देन की इच्छा उनकी विदेशी मुद्रा की मांग और आपूर्ति की अवस्था पर निर्भर है। इस मांग और आपूर्ति को जन्म देने वाले कारक इस प्रकार है:

मांग पक्ष

लोगों को विदेशी मुद्रा इन कारणों के प्रभाव स्वरूप प्राप्त करनी होती है:

(क) अन्य देशों से वस्तुओं और सेवाओं की खरीदारी के लिए;

(ख) विदेशों में उपहार भेजने के लिए;

(ग) किसी अन्य देश में वित्तीय परिसंपत्तियां खरीदने के लिए; तथा

(घ) विदेशी मुद्राओं के मूल्यमान को लेकर व्यापारिक दृष्टि से सट्टेबाजी के लिए।

आपूर्ति पक्ष

विदशी मुद्राएं किसी देश की अर्थव्यवस्था में निम्न कारणों से प्रवाहित होती है:

(क) विदेशियों द्वारा उस देश की वस्तुओं-सेवाओं की खरीदारी (निर्यात);

(ख) उस देश में संयुक्त उपक्रमों तथा वित्तीय बाज़ारों के माध्यम से विदेशी निवेश का आवागमन; और

(ग) मुद्रा व्यापारियों और सट्टेबाजों की गतिविधियों से।

ये उल्लिखित सातों कारक विदेशी मुद्रा बाज़ारों को प्रभावित करते हैं। समय विशेष की व्यावसायिक उच्चावचनों की प्रकृति ही यह निर्धारित करती है कि उस समय मांग पक्ष अधिक प्रभावशाली होगा या आपूर्ति पक्ष।

विनिमय बाज़ार में संतुलन

किसी भी सामान्य बाज़ार की भांति विनियम बाज़ार में भी दाहिनी ओर ढलवा मांग वक्र तथा इसी ओर उठता हुआ आपूर्ति वक्र होता है। ऊर्ध्व अक्ष पर देशीय मुद्रा की इकाइयां 'कीमत' दर्शायी (जैसे कि प्रति हजार कितने रुपये दिए जाएंगे क्षैतिज अक्ष पर आपूर्ति और मांग की मात्राएं दर्शाते हैं) जाती है।

मांग और आपूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेदन से संतुलन विनिमय दर Req. तथा संतुलन मात्रा Req. का निर्धारण हो जाता है। यदि विदेशी मुद्रा अमरीकी डालर हो तो भारत के संदर्भ में यह संतुलन दिखाएगा कि भारत प्रति अमरीकी डालर कितने रुपये देकर कितने डालर प्राप्त करना चाहता है)। यही संतुलन हमने चित्र 9.1 में दर्शाया है। ढालों को ठीक से समझना भी बहुत आवश्यक है। मांग वक्र दाहिनी ओर ढलवां हैं- अर्थात विनिमय दर में वृद्धि होने पर कम विदेशी मुद्रा की मांग की जाएगी। इसका आधार यही है कि विनिमय दर में वृद्धि से विदेशी वस्तुओं की रुपयों में लागत में वृद्धि होगी, वे महंगी हो जाएंगी।
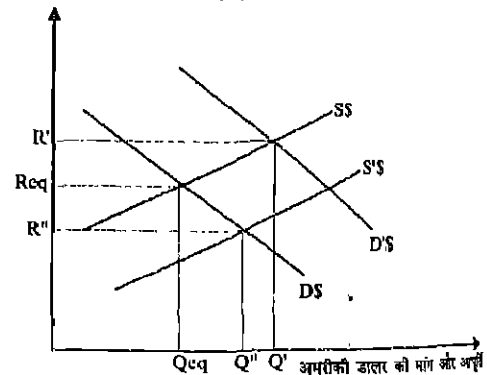
चित्र 9.1: विदेशी मुद्रा बाज़ार में संतुलन

अत: आयात में कमी आएगी। कम आयात के लिए हमें कम विदेशी मुद्रा की आवश्यकता रहेगी।

आपूर्ति वक्र S$ का ढाल ऊपर की ओर उठता हुआ है। इसका अर्थ होगा कि विनिमय दर बढ़ने पर अधिक विदेशी मुद्रा सुलभ हो सकती है। इसके कारण विदेशियों को हमारी वस्तुएं सस्ती लगेंगी (क्योंकि हमारे रुपये की विनिमय दर में कमी आ रही है)। परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा की आपूर्ति में 'सुधार' होगा। अत: विनिमय दर बढ़ने पर विदेशी मुद्रा की आपूर्ति में वृद्धि हो जाती है।

विदेशी विनिमय बाजार की संतुलन स्थिति को जानने के पश्चात आइए, इसकी असंतुलन अवस्था पर भी विचार करें।

भारत में अमरीकी डालरों की मांग में वृद्धि मांग वक्र D को D'$ पर खिसका देगी- इससे* विनिमय दर में वृद्धि होगी। विनिमय दर की वृद्धि का अर्थ होगा प्रत्येक अमरीकी डालर के लिए पहले से अधिक रुपये देने होंगे। इसी को रुपये के मान में **ह्रास** कहा जाता है। *आंतरिक मुद्रा का ह्रास* उस समय होता है जब देशीय मुद्रा इकाइयों में विदेशी मुद्राओं की कीमत में वृद्धि हो। इस दशा में देशीय मुद्रा कम 'मूल्यवान' रह जाती है।

इसी तरह से अमरीकी डालरों की आपूर्ति में वृद्धि से आपूर्ति वक्र खिसक कर S'$ हो जाएगा। रुपयों में डालर की विनिमय दर गिर जाएगी। अत: इससे भारतीय रुपये का अधिमूल्यन (अर्थात मूल्य में वर्धन) होगा। *मुद्रा अधिमूल्यन* उस समय होता है जब देशीय मुद्रा की ईकाइयों में विदेशी मुद्रा की कीमत कम हो जाए। इस व्यवस्था में आंतरिक मुद्रा अधिक मूल्यवान हो जाती है।

विनिमय दर व्यवस्थाएं

विनिमय दर का वास्तविक निर्धारण विभिन्न देशों के बीच इस विषय में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय प्रविधियों की व्यवस्था पर निर्भर रहता है। इन विनिमय दर व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव विश्व स्तरीय आर्थिक घटनाक्रमों के प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ है। आइए, अभी तक भारत में अपनाई गईं (समय-समय पर) प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्थाओं पर कुछ विचार करें।

स्थिर विनियम दर व्यवस्था

इस व्यवस्था के अंतर्गत देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय दर की घोषणा करती है। इस दर को स्थिर रखा जाता है। इसमें बहुत मामूली अंतर ही सहनीय माने जाते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था का सबसे अच्छा उदाहरण 1880-1914 तक चली स्वर्णमान व्यवस्था थी। स्वर्णमान में प्रत्येक देश स्वर्ण के निश्चित भार का अपनी मुद्रा में मूल्य घोषित कर देता था। उन घोषित मूल्यों के आधार पर विभिन्न मुद्राओं की परस्पर विनिमय दर का आकलन हो जाता था। इसे विनिमय की *टकसाल मान समता* दर कहा जाता था। यदि एक रुपये के बदले 125 शुद्ध स्वर्ण कण मिल रहे होते और एक डालर के बदले केवल 25, तो फिर एक रुपया = 125/25 = 5 अमरीकी डालर हो जाता। इस दशा में एक रुपये = 5 डालर की विनिमय दर नियत की जाती।

समंजनीय सीमा व्यवस्था
(Adjustable Peg System)

अंतत: 1920 के दशक में विश्व समुदाय ने स्वर्णमान को त्याग दिया- वह व्यवस्था अपने आप सभी देशों की भुगतान शेष की समस्याओं का समाधान कर पाने में सक्षम सिद्ध नहीं हुई। इसके स्थान पर नई व्यवस्था की रचना दो दशकों बाद हो पायी। 1944 में नवगठित व्यवस्था को ब्रेटन वुड्स व्यवस्था कहा जाता है। इसके अनुसार केवल अमरीकी डालर को नियत कीमत पर स्वर्ण में परिवर्तनीय घोषित किया गया था। इस व्यवस्था को समंजनीय सीमा व्यवस्था भी कहा जाता है। सदस्य

देश अपनी मुद्रा में स्वर्ण की कीमत में केवल अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहमति से ही परिवर्तन कर सकते थे। इस प्रकार एक बार घोषित दर को सहमति मिलने तक बनाए रखने का दायित्व राष्ट्रीय सरकार पर रहता था। यह स्थिर विनिमय दर व्यवस्था का ही एक संशोधित रूप था। अभी भी स्वर्ण ही अंतिम समता की इकाई के रूप में प्रतिष्ठित रहा।

स्थिर विनिमय दर व्यवस्था के पक्ष में अनेक तर्क दिए जाते थे। ये हैं:

(क) स्थिर दरों के कारण सदस्य देशों की आर्थिक नीतियों को कमजोर बनाने वाले बड़े आर्थिक उतार-चढ़ावों (संकटों) पर अंकुश रहता है।

(ख) परस्पर निर्भरता पूर्ण विश्व व्यवस्था में स्थिर विनिमय दरें विभिन्न देशों की समष्टिस्तरी आर्थिक नीतियों में सामजस्य बनाने में सहायक रहती हैं।

(ग) अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन में अनिश्चितता और जोखिम को समाप्त कर स्थिर दरें विश्व व्यापार के संवर्धन का मार्ग प्रशस्त करती हैं।

किंतु स्थिर दरों के आलोचकों ने इनकी अनेक त्रुटियां भी उजागर की हैं। इसीलिए उनका आग्रह नम्य (लचीली) विनिमय दरों पर रहा है।

नम्य विनिमय दर व्यवस्था

यह स्थिर दरों की व्यवस्था विपरीत एक दूसरे ही सिरे की व्यवस्था है (इसके अनुसार केंद्रीय बैंक सरकारों को विनिमय दरों में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए)। आखिर विदेशी मुद्रा बाजार नियमित रूप से इन्हीं दरों में तो मांग आपूर्ति के आधार पर निरंतर सुधार में व्यस्त रहता है।

इस पूर्णतः नम्य विनिमय दर व्यवस्था के विशेष गुण निम्न हैं:

(क) विनिमय दर नम्यता के कारण केंद्रीय बैंकों को विदेशी मुद्राओं के भण्डार बना रखने की आवश्यकता नहीं रहती।

(ख) विनिमय दर नम्यता व्यापार तथा पूँजी के आवागमन के प्रति अवरोधों की समाप्ति में सहायक है।

(ग) विनिमय दरों की नम्यता संसाधनों का अभीष्टतम आंबटन कर अर्थव्यवस्था की कुशलता को बढ़ा देती है।

हम स्थिर और नम्य दरों की व्यवस्थाओं की विस्तृत आलोचना नहीं कर रहे है- यह हमारे पाठ्यक्रम की परिधि से बाहर होगी। किंतु यहां इतना कह देना आवश्यक है कि ये दोनों व्यवस्थाएँ विपरीत पराकाष्ठाओं का चित्रण करती हैं। अभी उनकी उपयुक्तता/वांछनीयता का विवाद समाप्त नहीं हुआ है।

यही कारण है कि समय-समय पर उपर्युक्त दोनों (चरम) व्यवस्थाओं के गुणों के सम्मिश्रणों पर आधारित व्यवस्थाएं भी सुझाई गई हैं। उनका दावा है कि इन दोनों के सद्गुणों का समावेश कर ये मिश्रित व्यवस्थाएं रची गई हैं। आइए, इनके मुख्य लक्षणों पर भी एक दृष्टिपात करें।

विस्तृत सीमा पट्टी व्यवस्था

इस सुझाव का आरंभ बिंदु ब्रेटन बुड्स व्यवस्था में मान्य स्थिर दर से प्रतिशत की उतार-चढ़ाव सीमाएं ही हैं। इस विचार के प्रतिपादकों का मानना है कि यह मान्य उतार-चढ़ाव स्थिर घोषित दर के दोनों ओर 1 प्रतिशत के बजाय 10 प्रतिशत तक होना चाहिए। तभी सदस्य देश अपने भुगतान शेष के समंजन का कार्य सुगमता पूर्वक कर पाएंगे। उदाहरणतः यदि किसी देश को भुगतान शेष के घाटों का सामना हो तो उसे 10 प्रतिशत तक अपनी मुद्रा की दर कम करके इस घाटे की समस्या को निपटाने की छूट होनी चाहिए।

चलित सीमा बंध व्यवस्था

यह भी स्थिर और नम्य व्यवस्थाओं के बीच का एक समझौता ही है। इस व्यवस्था में भी देश

अपनी विनिमय दर घोषित कर उसमें उतार-चढ़ाव 1 प्रतिशत ही रखने का प्रयास करता है। किंतु यह नियत दर समय-समय पर देश के विनिमय भण्डारों की समीक्षा के कारण संशोधित की जाती है। इस संशोधन विषयक निर्णय में मुद्रा की आपूर्ति और कीमतों के उतार-चढ़ाव तथा नियत दर के गिर्द चल रहे परिवर्तनों का भी योगदान रहता है। इस चलित सीमा बंध व्यवस्था में घोषित दर के लिए न्यूनतम और उच्चतम सीमाएं नियत हो जाती हैं जिसके आधार पर मौद्रिक अधिकारी कुछ अनुशासन रख पाते हैं। चित्र 9.2 में चल सीमा बंध व्यवस्था की कार्य प्रक्रिया समझाई गई है।

इस व्यवस्था में शुरू में AB सीमा में विनिमय दर में बदलाव आते रहते हैं- पर यदि यह A के निकट आ टिके तो फिर कुछ थोड़ा सा अवमूल्यन कर नए सीमा बंध CD का निर्धारण हो जाता हैं। इसमें भी D पर पहुँचने से पुन: अवमूल्यन कर नए बंध EF का चयन आवश्यक हो सकता है। किंतु यदि नए सीमा बंध में विनिमय दर E के निकट स्थिर होने लगे तो कुछ अधिमूल्यन कर HG द्वारा इंगित सीमा बंध का प्रयोग आरंभ हो जाता है। ध्यान रहे कि विदेशी मुद्रा भण्डार में कमी ही अवमूल्यन का संकेत देती है तथा इसमें वृद्धि से अधिमूल्यन की प्रेरणा मिलती है।

प्रबंधित तरणशीलता

स्थिर और नम्य विनिमय दरों की एक अंतिम संकर प्रजाति प्रबंधित तरणशीलता है। इसमें विनिमय दर को लगभग पूरी तरह से स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है, मौद्रिक अधिकारी यदा कदा ही कुछ हस्तक्षेप करते हैं।

यहां हस्तक्षेप के लिए अधिकारिक रूप से नियम और मार्गदर्शक सूत्रों की घोषणा होती है- पर अधिकारीगण कोई विनिमय दर नियत नहीं करते। न ही विनिमय दर के उतार-चढ़ाव की कोई समय सीमा निर्धारित की जाती है। जब भी अधिकारियों को हस्तक्षेप की आवश्यकता अनुभव होती है वे उपयुक्त कदम उठा सकते हैं। कई बार यह हस्तक्षेप अन्य देशों के साथ समन्वित रूप से भी किया जा सकता है।

यदि प्रबंधित तरणशीलता में कोई नियम तथा मार्गदर्शक सूत्र नहीं बनाए जाते तो इसमें अतिशय हस्तक्षेप के दोष प्रविष्ट हो सकते हैं। एक देश अपनी प्रबंधित तरणशीलता को अन्य देशों के हितों के
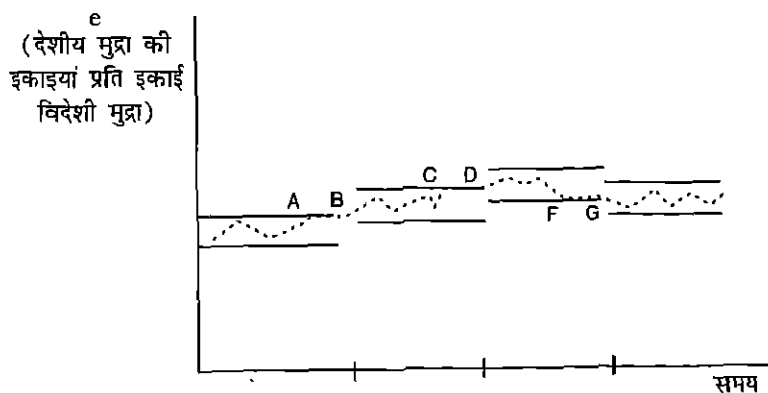
चित्र 9.2: चल सीमाबंध

विरुद्ध रुझान प्रदान कर सकता है। इस प्रकार के व्यवहार को गंदी तरणशीलता कहा जाता है।

हम इस खण्ड में विनिमय दरों के विषय में दो प्रकार की विनिमय व्यवस्थाओं के कुछ प्रतिरूपों को संक्षेप में जानने का प्रयास किया है। इनके पक्ष-विपक्ष के सभी तर्क अभी तक अधूरे ही हैं- इसी कारण इनके कुछ सम्मिश्रणों पर भी आचरण करने के प्रयास चल रहे हैं- इनमें विस्तृत सीमा, चल सीमा बंध तथा प्रबंधित तरणशीलता प्रमुख हैं। इस सारे विवरण की प्रस्तुति का एक ही ध्येय हैं: आप यह समझ सकें कि इन विनिमय दरों का निर्धारण अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यवस्था में एक जटिल प्रक्रिया के माध्यम से ही हो पाता है।

विदेशी विनिमय बाज़ार की कार्य पद्धति

विदेशी विनिमय बाज़ार के विश्लेषण में एक विधि लेन-देन की समय अवधि से जुड़ी है। यदि लेन-देन दैनिक प्रकृति का हो तो उसे चालू बाज़ार (Spot Market) या हाज़िर बाजार कहा जाता है। भविष्य में विदेशी मुद्रा की देयता का बाज़ार वायदा बाज़ार (Forward Market) कहलाता है।

विदेशी मुद्रा का हाज़िर बाज़ार

विदेशी मुद्रा की तात्कालिक दरें तुरंत होने वाले लेन-देन में निश्चित रूप से उपयोगी होती हैं। पर उस हाज़िर बाजार दर को जानना आवश्यक होता है। यही नहीं, देशीय मुद्रा की सभी व्यापार के सहयोगियों की मुद्राओं की तुलना में शक्ति जान पाना भी महत्त्वपूर्ण होता है। किसी मुद्रा की औसत सापेक्ष शक्ति (या क्षमता) का मान प्रभावी विनिमय दर (Effective Exchange Rate-EER) कहा जाता है। सामान्यत: हम इसमें कीमत स्तर के परिवर्तन के प्रभावों की समाप्ति का कोई प्रयास नहीं करते इसीलिए इसे मौद्रिक प्रभावी विनिमय दर (Nominal Effective Exchange Rate-NEER) भी कह देते हैं।

यदि हमारे देश भारत के व्यापार सहयोगियों की संख्या 'n' हो तो

$$NEER = \sum_{i=1}^{n}(R^{i}_{Index})(W_i)$$

यहां यदि 'i' वां व्यापार सहयोगी अमरीका हो तो

R^i = विनिमय दर - रुपये प्रति डालर

R^i_a = वर्ष 'a' में विनिमय दर

R^i_b = आधार वर्ष 'b' में विनिमय दर

$$R^i_{Index} = \frac{R^i_a}{R^i_b}$$

W_i = कुल व्यापार में 'i' वें भागीदार का अंश

$$= \frac{X_i + M_i}{X_{total} + M_{total}}$$

यहां X_i = i वें भागीदार को निर्यात

M_i = i वें भागीदार से आयात

X_{Total} = कुल निर्यात

M_{Total} = कुल आयात

हम ऐसे मानक मापक की रचना भी कर सकते हैं जिसमें विनिमय दर स्थिर कीमतों पर आधारित हो। इसके लिए वास्तविक विनिमय दर [Real Exchange Rate - RER] का आकलन किया जाता है।

पहले की तरह i वें व्यापार भागीदार के लिए वर्ष 'a' में

$$RER^i_{Index} = R^i_a \frac{\left[\begin{array}{l} i \text{ देश में } 'b' \text{ आधार पर वर्ष} \\ a \text{ में कीमत सूचक अंक} \end{array}\right]}{\left[\begin{array}{l} \text{भारत में } b \text{ आधार पर वर्ष} \\ a \text{ का कीमत सूचक अंक} \end{array}\right]}$$

'n' व्यापार सहयोगियों के संदर्भ में भारत की प्रभावी वास्तविक विनिमय दर [REER] का मान

वास्तव में उपर्युक्त की ही भांति औसत के समान होगा। अतः

$$REER = \sum_{i=1}^{n}(RER^{i}_{Index}(W_i)$$

विनिमय दर में सुधार या गिरावट का आकलन REER के आधार पर करना अधिक उचित होगा केवल NEER का प्रयोग कई त्रुटियों का कारण बन सकता है।

यही नहीं, हाज़िर बाज़ार की विनिमय दर तो केवल उस संतुलन दर को व्यक्त करती है जिस पर केवल चालू खाते के लेन-देनों में संतुलन हो रहा हो। यह इस तर्क पर आधारित है कि विभिन्न देशों में वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें ही विनिमय दरों का निर्धारण करती हैं। इसी को क्रय-शक्ति समता, (Purchasing Power Parity) तर्क भी कहा जाता है। इसके दो स्वरूप होते हैं।

परम क्रय-शक्ति समता तर्क के अनुसार यदि एक ही मुद्रा में आकलन किया जाए तो विश्व के सभी देशों में किसी भी वस्तु की कीमतें एक समान हो जाएंगी। इस प्रकार के तर्क का कोई व्यवहारिक (आंकड़ों पर आश्रित) आधार नहीं है। *सापेक्ष क्रय शक्ति समता* तर्क विनिमय दर को व्यापार में भागीदारों की आंतरिक कीमत वृद्धि दर से जोड़ने का प्रयास करता है।

विदेशी मुद्रा का वायदा बाज़ार

हाजिर बाज़ार के विपरीत वायदा बाज़ार में भविष्य में किसी तिथि पर पूरे होने वाले लेन-देन का कारोबार होता है। यह तो सभी जानते हैं कि अधिकांश अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन उसी दिन पूरे नहीं हो जाते। वस्तुतः जिस दिन लेन-देन के प्रपत्रों पर हस्ताक्षर होते हैं उसके कई दिन बाद जाकर वह लेन-देन पूरा होता है। जब एक विनिमय अनुबंधन को काफी समय बाद पूरा होना है तो फिर भविष्य में होने वाली संभावित विनिमय दर पर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है। इससे दोनों ही भागीदारों को भविष्य में संभावित विनिमय दर से जुड़ी जोखिम का पूर्वोपाय करने का अवसर मिल जाता है।

वायदा बाज़ार में वे व्यापारी होते हैं जिन्हें भविष्य में किसी दिन किसी मुद्रा की आवश्यकता होगी या वे उसकी आपूर्ति करेंगे। ऐसे भविष्य के सौदे करने के दो उद्देश्य होते हैं: एक तो विनिमय दर परिवर्तन के कारण संभावित जोखिम को कम करना तथा दूसरे लाभ कमाना। पहले उद्देश्य को जोखिम का पूर्वोपाय करते हैं और दूसरे को सट्टेबाजी।

अब हम विनिमय दर का अर्थ और इसके निर्धारण की प्रक्रिया को बहुत कुछ समझ चुके हैं। किसी अर्थव्यवस्था की समष्टि स्तरीय नीतियों का एक प्रमुख ध्येय विनिमय दर में स्थायित्व बनाए रखना होता है। आज के युग में तो किसी देश की विनिमय दर की समस्या न केवल संबद्ध देश बल्कि अन्य बहुत से देशों के लिए संकट का रूप धारण कर सकती है। पिछले दशक के मध्य में कुछ पूर्वी ऐशियाई देशों में विनिमय दर उतार-चढ़ाव (या अस्थिरता) ने अच्छे व्यापक स्तर पर आर्थिक संकट का रूप धारण कर लिया था। यदि आप शेष विश्व के घटनाक्रम पर ध्यान देंगे तो ऐसे ही अनेक और उदाहरण सामने आ जाएंगे।

सार संक्षेप

- विदेशी व्यापार से जुड़े सभी लोगों का ध्यान विनिमय दर पर लगा रहता है।
- विदेशी मुद्रा बाज़ार कई भूमिकाएं निभाता है- ये हैं क्रय-शक्ति के अंतरण, साख सुविधा और जोखिम का पूर्वोपाय।
- स्वतंत्र रूप से उच्चावचन कर रहे मुद्रा बाज़ार में तो विदेशी मुद्राओं के मांग और आपूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेदन से ही संतुलन स्थापित होता है।
- स्थिर और पूरी तरह नम्य विनिमय दर व्यवस्थाओं के दो छोरों के बीच में इन्हीं के कई सम्मिश्रित स्वरूप भी होते हैं जैसेकि विस्तृत सीमा-बंध, चल सीमा बंध और प्रबंधित तरणशीलता आदि। अनेक देश इनको अपनाते रहे हैं।
- हाजिर और वायदा बाज़ारों के भेद की समझ विदेशी मुद्रा बाज़ार की कार्यविधि की जटिलता की एक झलक हमें प्रदान कर देती है।
- विनिमय दर की अस्थिरता व्यापक मुद्रा संकट को जन्म दे सकती है।

अभ्यास

1. विदेशी विनिमय दर क्या है?
2. विदेशी मुद्रा बाज़ार की परिभाषा करें।
3. विदेशी मुद्रा बाज़ार में संतुलन की प्रक्रिया समझाइए।
4. विदेशी मुद्रा के (क) हाजिर बाज़ार, तथा (ख) वायदा बाज़ार क्या होते हैं?
5. इनकी परिभाषा करें : (क) NEER, (ख) NER, (ग) REER
6. स्थिर और नम्य विनिमय दरों में भेद समझाइए।
7. समता मान क्या होता है?
8. चल सीमा बंध तथा प्रबंधित ऋण का अर्थ समझाइए।

अध्याय 10

भुगतान शेष

अर्थव्यवस्था के समष्टिस्तरीय अध्ययन में देश के भुगतान शेष खाते का अपना महत्त्व होता है। हमने अध्याय 2 के चार क्षेत्रकीय चक्रीय प्रवाह चित्र में ही यह तो जान ही लिया था कि विदेशी क्षेत्र के अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रकों पर कई प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। समष्टि गतिविधि चक्र को किसी एक अर्थव्यवस्था तक सीमित रख पाना संभव नहीं होता। वस्तुत: अनावृत (खुली) अर्थव्यवस्थाएं तो शेष विश्व के घटनाचक्र के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएं भी तुरंत ही प्रकट कर देती हैं। देश के शेष विश्व के साथ सारे लेन-देनों का लेखा तैयार करने के लिए ही राष्ट्रीय आय लेखे के महत्त्वपूर्ण अवयव के रूप में भुगतान शेष खाता भी तैयार किया जाता है।

भुगतान शेष खाता निश्चित अवधि (वित्तीय वर्ष) में किसी देश के शेष विश्व के साथ सभी लेन-देनों का सार होता है। भुगतान शेष किसी देश के निवासियों और शेष विश्व के बीच नियत अवधि में हुए सारे आर्थिक लेन-देनों का व्यवस्थित रिकार्ड होता है।[1]

यहां दो प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक है। पहले तो निवासी कौन हैं? और दूसरे, आर्थिक लेन-देन क्या होता है?

सामान्यत: देश के निवासियों में हम व्यक्तियों, व्यावसायिक इकाइयों, सरकार और उसके संस्थानों/निकायों को सम्मिलित करते हैं। एक आर्थिक लेन-देन में मूल्य का आदान-प्रदान होता है। इस प्रक्रिया में किसी आर्थिक पदार्थ के स्वामित्व का अंतरण होता है, किसी देश के निवासियों द्वारा दूसरे देशों के निवासियों के लिए कुछ सेवा कार्य संपन्न होता है।[2]

राष्ट्रीय आय और भुगतान शेष में संबंध

आर्थिक गतिविधियों से दो प्रकार के ऐसे लेन-देनों का सृजन होता है जिनके कारण अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर *भुगतान करने और भुगतान प्राप्त करने की आवश्यकता* पड़ जाती है। इन गतिविधियों में सर्वप्रथम तो उत्पादन एवं उसकी बिक्री है। दूसरी गतिविधि किसी वर्तमान वित्तीय और वास्तविक परिसंपत्ति के क्रय-विक्रय से संबद्ध होती है।

आइए, हम पहले उत्पादन और चालू उत्पादन के विक्रय पर चर्चा करें। एक अनावृत अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर समग्र व्यय में घरेलू क्षेत्र के उपभोक्ताओं, निवेशकों तथा सरकार के

---

[1] अंतर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, सी.पी. किंडल बर्गर, होम वार्ड, इल्लिनॉयन, इर्विन, पृ. 457

[2] सी.पी. किंडल बर्गर, उल्लिखित।

व्यय के साथ ही विदेशियों द्वारा उक्त देश से आयात पर व्यय को जोड़ा जाता है। इसी योग से सृजित आय प्रवाह इस प्रकार दर्शाया जाता है:

$$Y = C + I + G + X$$

इसी का प्रयोग उपभोग, बचत और कर भुगतान में होता है। विदेशों से आयात पर व्यय (M) भी इसी में से किया जाता है। अत: आय के प्रयोग स्वरूप को हम इस प्रकार अभिव्यक्त कर सकते हैं:

$$Y = C + S + T + M$$

राष्ट्रीय आय लेखांकन सिद्धांतों के अनुसार सृजित आय का मान प्रयुक्त आय के समान होगा। अत:

$$C + I + G + X = C + S + T + M$$

दूसरे शब्दों में

$$I + X + G = S + T + M$$

यहां I, G तथा X चक्रीय प्रवाह में भरण सूचक मदें हैं तो S, T तथा M इस प्रवाह से क्षरण को सूचित करती हैं। अत: हम कह सकते हैं कि संतुलन की स्थिति में प्रायोजित भरणों का योग प्रायोजित क्षरणों के योग के समान होगा।

व्यापार शेष और भुगतान शेष

व्यापार शेष में केवल दृश्य मदों को सम्मिलित किया जाता है- अर्थात् केवल वस्तुओं के आयात-निर्यात का लेखा इस खाते में दर्शाया जाता है। इसमें सेवाओं- जैसेकि जहाजरानी, बीमा, बैंकिंग, ब्याज एवं लाभांश भुगतान और पर्यटकों द्वारा व्यय आदि सम्मिलित **नहीं** किया जाता।

भुगतान शेष में दृश्य और अदृश्य (सेवाएं) मदों के सारे आयात-निर्यात का लेखा किया जाता है। अत: किसी देश के शेष विश्व से आर्थिक लेन-देन का अधिक व्यापक चित्र भुगतान शेष खाता ही कर पाता है- व्यापार शेष नहीं।

भुगतान शेष लेखांकन की संरचना

भुगतान शेष खाते में सभी लेन-देनों के दोनों पक्षों को समाहित करने के ध्येय से द्वि-प्रविष्टि प्रणाली लेखांकन पद्धति[3] का अनुसरण किया जाता है। इसीलिए देश के प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन से भुगतान शेष खाते में दो प्रविष्टियाँ होंगी- एक 'जमा' तथा दूसरी 'नाम' की। इन दोनों प्रविष्टियों का आकार समान होता है। इस द्वि-प्रविष्टि लेखांकन प्रणाली के कारण ही भुगतान शेष खाता सदैव संतुलन में भी रहता है। दूसरे शब्दों में जमा की प्रविष्टियों का योगफल सदा नाम पक्ष की प्रविष्टियों के योग के समान रहता है। हां, इस खाते में सरकारी मद् के रूप में 'भूल-चूक' की मद अवश्य सम्मिलित करनी पड़ जाती है। परंपरानुसार हम नाम पक्ष की राशियों को (-) घटा के चिन्ह द्वारा इंगित करते हैं और जमा की राशियों के साथ (+) योग का चिन्ह लगा देते हैं।

भुगतान शेष खाते के लेन-देनों को हम इन पाँच प्रमुख श्रेणियों में वर्गीकृत करते हैं:

1. वस्तुएँ और सेवाएं खाता
2. एक पक्षीय अंतरण खाता
3. दीर्घकालिक पूँजी खाता
4. अल्पकालिक निजी पूँजी खाता
5. अल्पकालिक अधिकारिक (सरकारी) पूँजी खाता

प्रत्येक श्रेणी की जमा और नाम की मदों को हम तालिका 10.1 में दर्शा रहे हैं।[4]

[3] लेखांकन की द्वि-प्रविष्टि प्रणाली में यह ध्यान रखा जाता है कि किसी खाते में जमा हो रही राशि के विषय में यह जानकारी अवश्य मिले कि ये राशि कहां से आयी है और इसी को किसी अन्य खाते में भी दोबारा लिखकर यह भी स्पष्ट किया जाता है कि इस राशि का क्या प्रयोग हो रहा है। यह खाते स्पष्ट करते हैं कि उक्त राशि का स्रोत क्या है और उसे कहां खर्च किया गया है।

[4] इंटरनेशनल इक्नॉमिक्स, डेनिस.आर.ऐप्पलयार्ड एंड जे. फील्ड होमवार्ड, इल्लिनॉयज् इर्विन, 1992, पृष्ठ 47 ।

तालिका 10.1 : भुगतान शेष खाते में जमा नाम वर्गीकरण व्यवस्था

नाम (–)	जमा (+)
श्रेणी-I	
(क) सेवाओं का आयात	(क) वस्तुओं का निर्यात
(ख) वस्तुओं का आयात	(ख) सेवाओं का निर्यात
श्रेणी-II	
एक पक्षीय अंतरण (उपहार दिए)	एक पक्षीय अंतरण (उपहार मिले)
श्रेणी-III	
(क) देश के नागरिकों और सरकार द्वारा धारित दीर्घकालिक विदेशी परिसंपत्तियों में वद्धि	(क) देश के नागरिकों और सरकार द्वारा धारित दीर्घकालिक विदेशी परिसंपत्तियों में कमी
(ख) विदेशी नागरिकों और सरकारों द्वारा धारित इस देश की दीर्घकालिक परिसंपत्तियों में कमी	(ख) विदेशी नागरिकों और सरकारों द्वारा धारित इस देश की दीर्घकालिक परिसंपत्तियों में वृद्धि
श्रेणी-IV	
(क) देश के नागरिकों द्वारा धारित अल्पकालिक विदेशी परिसंपत्तियों में वद्धि	(क) देश के नागरिकों द्वारा धारित अल्पकालिक विदेशी परिसंपत्तियों में कमी
(ख) विदेशी नागरिकों द्वारा धारित इस देश की अल्पकालिक विदेशी परिसंपत्तियों में कमी	(ख) विदेशी नागरिकों द्वारा धारित अल्पकालिक विदेशी इस देश की अल्पकालिक परिसंपत्तियों में वृद्धि
श्रेणी-V	
(क) देश की सरकार (*मौद्रिक अधिकारी*) द्वारा अल्पकालिक विदेशी परिसंपत्तियों के धारण में वद्धि	(क) देश की (*मौद्रिक अधिकारी*) द्वारा अल्पकालिक विदेशी परिसंपत्तियों के धारण में कमी
(ख) विदेशी सरकारों (मौद्रिक अधिकारियों) द्वारा इस देश की अल्पकालिक परिसंपत्तियों के धारण में कमी	(ख) विदेशी सरकारों (मौद्रिक अधिकारियों)द्वारा इस देश की अल्पकालिक परिसंपत्तियों के धारण में वृद्धि।

भुगतान शेष खाते की उक्त पांच श्रेणियों की मदों का एक मोटा विभाजन भी संभव है। यह है *चालू खाते* और *पूँजी खाते* में विभाजन। आइए, हम इन दोनों- चालू और पूँजी खातों की रचनाओं को समझने का प्रयास करें।

चालू खाता

चालू खाते में वस्तुओं और सेवाओं के आयात-निर्यात तथा एक पक्षीय अंतरणों का ब्यौरा होता है। निर्यात भले ही इस्पात, यंत्रादि और चावल जैसी वस्तुओं के हों या फिर बैंकिंग, बीमा, पर्यटन आदि सेवाओं के, इस खाते में 'जमा' की मदों के रूप में सम्मिलित रहते हैं। इसका कारण यही है कि निर्यात से देश की ओर विदेशी मुद्रा का प्रवाह होता है। आयातों से विदेशी मुद्रा का देश से बाहर की ओर प्रवाह होता है। इसी कारण उन्हें नाम खाते में दर्शाया जाता है।

1. भुगतान शेष लेखें में वस्तुओं और सेवाओं के व्यापार में भेद किया जाता है। वस्तुओं के आयात-निर्यात का लेखा दृश्य व्यापार शेष कहा जाता है। सेवाओं के व्यापार के लेखे को अदृश्य व्यापार शेष का नाम देते हैं। इस भेद का आधार यही है कि वस्तुएं आंखों से दिखाई देती हैं पर सेवाओं को इस प्रकार देख पाना संभव नहीं होता।
2. एक पक्षीय अंतरण अथवा अप्रतिदत्त अंतरण उन प्राप्तियों को कहा जाता है जिनके (प्रतिदान स्वरूप) बदले में प्राप्त करने वाले को कुछ भी नहीं देना होता। विदेशों से मिली इन सभी प्राप्तियों को धनात्मक चिन्ह के साथ दर्शाते हैं। इसी तरह से विदेशियों को दी गई ऐसी राशियां ऋणात्मक चिन्ह के साथ अंतरण खाते में अंकित की जाती है।

निजी आधार पर अप्रतिदत्त अंतरण देश के नागरिकों को बाहर से मिले उपहार आदि हैं-(और उन द्वारा विदेशियों को दिए गए उपहार भी इसी वर्ग में शामिल होते हैं- पर ऋणात्मक चिन्ह के साथ)। इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण पश्चिम एशिया के खाड़ी क्षेत्र में बसे भारतीय द्वारा अपने परिवार के सदस्यों को भेजी जा रही राशियां हैं। इसके विपरीत, अधिकारिक (सरकारी) स्तर पर अप्रतिदत्त अंतरण विकसित देशों से प्राप्त विदेशी सहायता (और अपने से पिछड़े देशों को दी गई सहायता) है।

दृश्य और अदृश्य मदों के शुद्ध व्यापार और एक पक्षीय अंतरणों का योग ही *चालू खाते पर शेष* कहलाता है।

पूँजीखाता

पूँजी खाते में वे सभी विनिमय दर्ज किए जाते हैं जिनमें एक देश निवासियों द्वारा शेष विश्व से पूँजीगत परिसंपत्तियों तथा दायित्वों का आदान-प्रदान होता है। पूँजी खाते के प्रमुख लेन-देन इस प्रकार हैं:

1. *निजी लेन-देन:* इन लेन-देनों से व्यक्तियों, व्यवसायों और गैर-सरकारी निकायों द्वारा निजी रूप से धारित परिसंपत्तियां और दायित्व प्रभावित होता हैं। विदेशी निवेश का अधिकांश भाग निजी ही होता है।
2. *अधिकारिक या सरकारी लेन-देन:* ये लेन-देन सरकार और उसकी संस्थाओं की परिसंपत्तियों और दायित्वों को प्रभावित करते हैं।
3. *प्रत्यक्ष निवेश:* यह किसी परिसंपत्ति को खरीद कर उस पर अपना नियंत्रण स्थापित करना है (प्राय: इसे पुन: बेच पाना सरल नहीं होता)। ऐसे निवेश का उदाहरण होगा एक देश की फर्म द्वारा किसी दूसरे देश की निजी फर्म का अधिग्रहण। मूल कंपनी द्वारा किसी दूसरे देश में कार्यरत अपनी सहायक कंपनी को अधिग्रहण आदि के लिए धन का अंतरण भी प्रत्यक्ष निवेश का ही एक प्रकार है। इस प्रकार के व्यावसायिक लेन-देन निजी विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का मुख्य घटक होते हैं। किसी दूसरे देश में मकान खरीदने का कार्य भी निजी निवेश का ही एक अंश माना जाता है।
4. *पत्राधार निवेश:* यह निवेश परिसंपत्तियों के क्रेता को उन पर नियंत्रण प्रदान नहीं करता। उदाहरणत: किसी विदेशी कंपनी द्वारा हमारे देश के शेयर बाजार से अंश पत्रों तथा ऋण पत्रों की खरीदारी। हमारी सरकार को विदेशी बैंकों/संस्थानों द्वारा ऋण दिया जाना भी इसी वर्ग में आता है।

परंपरानुसार किसी अन्य देश में परिसंपत्ति की खरीदारी को क्रेता देश के पूँजी खाते में ऋणात्मक चिन्ह के साथ अंकित किया जाता है। इसका कारण यही है कि इस लेन-देन में विदेशी मुद्रा का देश से

बाहर की ओर प्रवाह हुआ है। अत: सभी पूँजीगत विनिमयों के वर्गीकरण का एक ही आधार मानते हैं। यदि विदेशी मुद्रा का अपवाह हो तो इसे ऋणात्मक चिन्ह दिया जाता है। यदि विदेशी मुद्रा का अंतर्वाह हो तो उसे धनात्मक चिन्ह के साथ अंकित किया जाता है।

प्रत्यक्ष एवं पत्राधार निवेश के निवल मान को *पूँजी खाते पर शेष* कहा जाता है।

भुगतान शेष खाते की अन्य मदें

इस वर्ग में वे सभी मदें आती हैं जिन्हें पिछले दो वर्गों में स्थान दे पाना संभव नहीं होता। इन्हें खाते में दिखाना इसलिए आवश्यक है कि अन्यथा खाते का संतुलन संभव नहीं हो पाता। ये मदें हैं:

1. *भूल-चूक:* ये मदें वास्तव में सभी लेन-देनों को समय रहते सटीक रूप से आकलन में समाहित कर पाने में रह गई त्रुटियों की ही स्वीकारोक्ति होती हैं। इनका एक कारण यह होता है कि प्राय: वास्तविक लेन-देनों के स्थान पर कुछ एक विनिमयों के प्रतिदर्श के आधार पर किसी वर्ग की सभी प्रविष्टियों का औसत मान अंकित करने का प्रयास किया जाता है। उदाहरण नींबूओं के निर्यात में सभी बक्सों के भार को अंकित करने के स्थान पर औसत भार के अनुमान को बक्सों की संख्या से गुना कर कुल निर्यात के आंकड़े तैयार किए जा सकते हैं। कई बार व्यापारियों द्वारा कर बचाने के ध्येय से माल की मात्रा कम बताना या फिर तस्करी आदि भी असली आंकड़ों और सूचित आंकड़ों के अंतर पैदा कर देते हैं।
2. *सरकारी निधि विनिमय;* इनके अतिरिक्त सभी लेन-देन 'स्वप्रेरित' होते हैं। उनके निर्धारक ध्येय स्वतंत्र होते हैं, उनमें भुगतान शेष या विनिमय दर पर संभावित प्रभावों के प्रति किसी चिंता की झलक नहीं होती । इसके विपरीत, सरकार या मौद्रिक अधिकारियों द्वारा किए गए लेन-देन (निधि विनिमय) किन्हीं अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों से प्रेरित होते हैं। ये सदैव ही भुगतान शेष और विनिमय दर के प्रति सचेत रहते हैं। इसीलिए ये निधि कोष से जुड़े विनिमय स्वप्रेरित नहीं माने जाते।

इस श्रेणी की पहली मद ही देश के अधिकारिक निधि कोष में परिवर्तन है। ये कोष विदेशी मुद्रा, विदेशी मुद्रा प्रतिभूतियों, स्वर्ण, विशेष आहरण अधिकारों (अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से) आदि के रूप में होता है। विशेष आहरण अधिकार व्यवस्था के अंतर्गत एक देश अपनी मुद्रा के बदले, एक निश्चित सीमा तक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से आवश्यक विदेशी मुद्राएं प्राप्त कर सकता है। देश के निधि कोष के परिवर्तनों में भुगतान शेष खाते के अन्य सभी घटकों के प्रतिबिंब झलकते हैं। इन कोषों में कमी से विदेशों में खर्च की आवश्यकता पूरी होती है। इन कमियों से विदेशी मुद्रा का अंतर्वाह होता है अत: इन्हें भुगतान शेष खाते में 'धनात्मक' प्रविष्टि माना जाता है। दूसरी ओर कोष वृदधि का अर्थ होगा विदेशी मुद्रा का अपर्वाह- अत: उसे ऋणात्मक प्रविष्टि माना जाएगा।

इस वर्ग की दूसरी मद भारत में अधिकारिक विदेशी परिसंपत्तियों में परिवर्तन है। विदेशों के केंद्रीय बैंक भी अपनी सुरक्षित निधियों में कुछ भारतीय रुपये अवश्य रखते हैं। यदि उन बैंकों द्वारा इस प्रकार रुपयों का धारण बढ़ता है तो यह हमारी अर्थव्यवस्था के भुगतान शेष खाते में एक धनात्मक प्रविष्टि का रूप धारण कर लेगा (क्योंकि भारत को रुपयों के बदले विदेशी मुद्रा की प्राप्ति होगी)। हम तालिका 10.1 में पिछले एक दशक से भारत के भुगतान शेष खाते में आये परिवर्तनों की एक झांकी प्रस्तुत कर रहे हैं।

तालिका 10.1 भारत का भुगतान शेष

क्रमांक मद	1990-91	2001-02
1 निर्यात	18477	44915
2 आयात	27915	57618
3 व्यापार शेष	(-)9438	(-)12703
4 अदृश्य मदें (निवल)	(-)242	14054
(i) गैर-साधन सेवाएं	980	4199
(ii) निवेश से आय	(-) 3752	(-) 2654
(iii) निजि अंतरण	2069	12125
(iv) अधिकारिक अंतरण	461	384
5 चालू खाते पर शेष	(-)9680	1351
6 विदेशी सहायता (निवल)	2210	1204
7 व्यावसायिक ऋण (निवल)	2248	(-)1147
8 अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से (निवल)	1214	0
9 अनिवासियों की जमाएं (निवल)	1536	2754
10 रुपयों में अंकित ऋणों की सेवा	(-)1193	(-)519
11 विदेशी निवेश (निवल), उसमें से	103	5286
(i) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (निवल)	97	3266
(ii) विदेशी निवेशक संस्थाएँ	0	1505
(iii) यूरो- अंश पत्र आदि	6	515
12 अन्य प्रवाह (निवल)	2284	2828
13 पूँजी खाता योग (निवल)	8402	10406
14 निधि कोषों का प्रयोग (वृद्धि)	1278	(-)11757

स्रोत: आर्थिक सर्वेक्षण, 2002-03, भारत सरकार

स्वप्रेरित और समायोजक मदें: भुगतान शेष खाते में प्रयुक्त शेष राशि की व्याख्या करते समय अर्थशास्त्री प्राय: *'स्वप्रेरित' समायोजक, रेखा से ऊपर* तथा *रेखा से नीचे* की मदों आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। आइए, उनका कार्य समझने की चेष्टा करें।

स्वप्रेरित मदें: इनमें वे सभी अंतर्राष्ट्रीय लेन-देन आते हैं जो लाभ जैसी प्रेरणाओं के कारण किए जाते हैं। ये विनिमय देश के भुगतान शेष की चिंता से मुक्त होते है। इन्हीं को भुगतान शेष खाते में *रेखा से* ऊपर की मदें भी कहा जाता है।

भुगतान शेष में घाटे का अर्थ है कि स्वप्रेरित प्राप्तियों का योग स्वप्रेरित भुगतानों से कम रह गया है। इसका अर्थ होगा देश की देनदारियों में निवल वृद्धि। दूसरी ओर स्वप्रेरित प्राप्तियों के भुगतानों से अधिक होने की दशा में भुगतान शेष में आधिक्य हो जाता है। इसका अर्थ है कि इस देश के अन्य देशों के प्रति दावों में वृद्धि हो रही है।

देश के मौद्रिक अधिकारी घाटे की पूर्ति विदेशी मुद्रा भण्डार को कम करके, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से ऋण अथवा अन्य देशों के मौद्रिक अधिकारियों से ऋण लेकर कर सकते हैं। इन सभी को निधि कोष में कमी द्वारा ही दिखाया जाता है। यदि मौद्रिक अधिकारियों के पास घाटा नहीं आधिक्य हो तो वे विदेशी प्रतिभूतियां, विदेशी मुद्रा या सोना चांदी भी खरीद सकते हैं। इसे हम निधि कोश वृद्धि द्वारा दिखाते है।

भुगतान शेष की *समायोजक मदें* वे मदें होती है जिनके *अंतर्गत* लेन-देन करना किन्हीं अन्य मदों के परिवर्तन के कारण अनिवार्य होता जाता है। उदाहरणत: सरकार द्वारा वित्तीयन आदि। इस समायोजक मदों को योग रेखा के नीचे की मदें भी कहा जाता है। अधिकारिक स्तर के लेन-देनों को समायोजक माना जाता है- क्योंकि ये भुगतान शेष की सर्वसमिका को बनाए रखने के लिए ही किए जाते हैं। भुगतान शेष के

प्रति अधिकारिक स्तर पर निपटान का दृष्टिकोण मौद्रिक अधिकारियों द्वारा किए गए निवल मौद्रिक अंतरण पर ही केंद्रित रहता है। इसके पीछे मान्यता यही होती है कि भुगतान शेष के किसी भी घाटे को पूरा करने (वित्तीय प्रबंध करने) का दायित्व अंतत: मौद्रिक अधिकारियों का है और वही अंतिम रूप से आधिक्य का प्रयोग करने के अधिकारी भी हैं।

यह अधिकारिक निपटान दृष्टिकोण स्थिर विनिमय दर व्यवस्था में बहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। नम्यतापूर्ण विनिमय दर व्यवस्था में तो दरों के संशोधन द्वारा ही अधिकांश घाटे और आधिक्य का निपटान हो जाता है। वहां मौद्रिक अधिकारियों को निपटान के लिए बहुत कम प्रयास करना पड़ता है।

भुगातन शेष में अंसतुलन

अनेक कारक भुगतान शेष में घाटा या आधिक्य की रचना कर उसे असंतुलित कर देते हैं। इन्हें हम तीन वर्गों में बांटते हैं: (क) आर्थिक कारक, (ख) राजनीतिक कारक, तथा (ग) सामाजिक कारक।

आर्थिक कारक

- बड़े पैमानें पर विकास व्यय– इससे भारी स्तर पर आयात आवश्यक हो जाता है।
- सामान्य व्यवसाय में चक्रीय उतार-चढ़ाव (मंदी या तेजी)।
- उच्च आंतरिक कीमतों के कारण आयात वृद्धि।
- आपूर्ति के नए स्रोतों का विकास, नए बेहतर उत्पादनों का विकास और लागतों में अंतर भी व्यापार प्रवाहों में बदलाव के माध्यम से भुगतान शेष को प्रभावित कर सकते हैं।

राजनीतिक कारक

देश में राजनीतिक अस्थिरता बड़े स्तर पर पूँजी के पलायन का कारण बन सकती है। इस दशा में विदेशी निवेश का आना भी थम जाता है।

सामाजिक कारक

अभिरुचियों, वरीयताओं, प्रचलन आदि के परिवर्तन भी आयात तथा निर्यात को प्रभावित कर सकते हैं।

भुगतान शेष में असंतुलन नीति निर्धारकों के लिए एक गंभीर समस्या होती है। निरंतर असंतुलन से विश्व समुदाय में देश के मान और प्रतिष्ठा पर आंच आती है। भुगतान शेष के घाटे के दुष्प्रभाव आंतरिक क्षेत्रकों को भी भुगतने पड़ते हैं। इस कारण देश के अपने मौद्रिक अधिकारी और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष भुगतान शेष के घाटे से निपटने के लिए कुछ उपयुक्त नीतियां अपनाते हैं। इसीलिए सभी देश अपनी आर्थिक कार्यसूची में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में अच्छे निष्पादन द्वारा भुगतान शेष की समस्याओं से बचे रहने को एक उच्च वरीयता क्रम पर रखने के लिए सदैव सचेष्ट रहते हैं।

सार संक्षेप

- भुगतान शेष लेखा राष्ट्रीय आय लेखे का अभिन्न अंग होता है
- भुगतान शेष खाता द्वि-प्रविष्टि पद्धति के अनुसार लिखा जाता है।
- कुल मिलाकर भुगतान संतुलन आर्थिक नीतियों का महत्त्वपूर्ण लक्ष्य होता है।
- भुगतान शेष में असंतुलन (घाटा) अर्थव्यवस्था की मूलभूत क्षमताओं को लेकर प्रश्न खड़े कर देता है।

अभ्यास

1. व्यापार शेष और भुगतान शेष की परिभाषाएं करें।
2. सभी लेन-देनों के पंचवर्गीय विभाजन की व्याख्या करें।
3. भारत के भुगतान शेष खातों की संरचना समझाइए।
4. भुगतान शेष तथा राष्ट्रीय आय लेखों के बीच संबंध की व्याख्या करें।
5. समायोजक और स्वप्रेरित मदों की परिभाषा कीजिए।
6. इन खातों के घटकों की व्याख्या करें:
   (क) चालू खाता
   (ख) पूँजी खाता
7. भुगतान शेष में असंतुलन के कारण बताइए।

शब्दावली

समायोजक मदें — भुगतान शेष खाते में प्रयुक्त शब्द, ये ऐसे विनिमय को व्यक्त करते हैं जो किन्हीं अन्य गतिविधियों के कारण करने पड़ जाते हैं। उदाहरणत: सरकार द्वारा वित्तीयन।

लेखा अवधि — वह एक वर्ष की अवधि जिसके लिए लेखे का अंकन और आकलन होता है। यह सामान्यत: केलेण्डर वर्ष से भिन्न होती है। भारत में वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल से अगामी 31 मार्च तक चलता है। जैसे: 1 अप्रैल 2003 से 31 मार्च 2004 तक।

वास्तविक निवेश — निवेश पर हुआ व्यय, जिसे निवेश हो चुकने पर, या अवधि के अंत पर आकलित किया गया।

वास्तविक बचत — आय में से बचा कर रखी गई राशि, इसका आकलन भी अवधि की समाप्ति पर ही होता है।

समंजनीय सीमा बंध — देश द्वारा अपनी मुद्रा की विनिमय दर को किसी अन्य देश की मुद्रा की इकाइयों में नियत करना। इस नियत दर में किन्हीं परिस्थितियों में परिवर्तन संभव होते हैं, इसीलिए इसे समंजनीय सीमा बंध कहते हैं।

प्रशासकीय राजस्व — सरकारी प्रशासकीय गतिविधियों से प्राप्त राजस्व।

समग्र मांग — अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की कुल मांग।

समग्र आपूर्ति — अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं की कुल आपूर्ति।

स्वप्रेरित मदें — भुगतान शेष में प्रयुक्त शब्द, ये अधिकतम लाभ जैसे उद्देश्य से प्रेरित अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक लेन-देन को व्यक्त करती हैं।

औसत उपभोग प्रवृत्ति — किसी भी आय स्तर पर उपभोग और आय का अनुपात। यह औसत उपभोग-आय संबंध को दर्शाता है।

औसत बचत प्रवृत्ति — किसी भी आय स्तर पर यह बचत और आय का अनुपात है।

भुगतान शेष — नियत अवधि में किसी देश के निवासियों के शेष विश्ववासियों से आर्थिक लेन-देन का व्यवस्थित लेखा।

व्यापार शेष — वस्तुओं के आयात निर्यात का लेखा- इसमें जहाजरानी, बैंकिंग, बीमा, ब्याज और लाभांश तथा पर्यटन सेवाएं शामिल नहीं होती।

संतुलित बजट — ऐसा बजट जिसमें अनुमानित राजस्व अनुमानित व्यय के समान हो।

बैंक दर — वह ब्याज जिस पर अंतिम ऋणदाता के रूप में केंद्रीय बैंक व्यावसायिक बैंकों को अनुमोदित परिसंपत्तियों की कटौति के माध्यम से उधार देता है।

वस्तु विनिमय — वस्तुओं का वस्तुओं के बदले लेन-देन।

आधार वर्ष — वह विगत वर्ष जिसके मूल्यमान के आधार पर अगले वर्षों में किन्हीं आर्थिक 'चरों' के मान की तुलना की जाती है। उदाहरणत: यदि वर्ष 2003 के कीमत स्तर की वर्ष 2000 के स्तर से तुलना करें तो वर्ष 2000 को आधार वर्ष कहा जाएगा।

विकल्पों का धारक — मुद्रा को विकल्प धारक कहा जाता है क्योंकि इसके धारक को मुद्रा ही अपने पास रखने या उससे कोई वस्तु खरीदने का विकल्प सुलभ रहता है।

विनिमय पत्र — प्राप्त हुई वस्तुओं के मूल्य चुकाने के दायित्व को स्वीकार करने की घोषणा करने वाला पत्र। इसे व्यापारी हुंडी भी कहते हैं।

बजट — सरकार द्वारा आगामी वित्तीय वर्ष (1 अप्रैल से अगामी 31 मार्च तक) की अवधि के लिए अनुमानित प्राप्तियों और खर्चों का अनुमान।

बजट घाटा — बजट घाटा सरकार के कुल व्यय और चालू राजस्व तथा निवल आंतरिक-बाह्य पूँजीगत प्राप्तियों के योग के अंतर को कहते हैं। इसे पूरा करने के लिए अतिरिक्त आंतरिक एवं बाह्य पूँजीगत प्राप्तियां जुटाने की आवश्यकता होती है।

वस्तु-वस्तु अर्थव्यवस्था — ऐसी अर्थव्यवस्था जहाँ वस्तुओं का वस्तुओं से ही विनिमय होता है।

पूँजी बजट — वित्तीय वर्ष की अवधि में सरकार की पूँजीगत प्राप्तियों और भुगतानों का विवरण

पूँजी उपभोग प्रावधान — किसी भौतिक संपत्ति की वर्ष भर की घिसावट (मूल्य ह्रास) का मौद्रिक मान।

पूँजीगत व्यय — भूमि, भवन, यंत्र संयत्रादि की प्राप्ति, पर व्यय, अंशपत्रों की खरीदारी, राज्य और संघ-शासित क्षेत्रों की सरकारों को केंद्र

	द्वारा दिए गए ऋण (इनमें सरकारी कंपनियों तथा निकायों को दिए गए ऋण सम्मिलित हैं)।
पूँजीगत प्राप्तियाँ	इसमें सम्मिलित हैं: सरकार द्वारा बाजार से लिए गये ऋण, रिजर्व बैंक एवं अन्य संस्थानों से राजकोषीय हुंडियों के आधार पर ऋण, विदेशी सरकारों, मुद्रा कोष, एशियन विकास बैंक आदि से ऋण, तथा राज्यों, निकायों आदि को दिए हुए पुराने ऋण की वापसी की राशियां। जनता द्वारा लघु बचतें और सार्वजनिक भविष्य निधि कोष में जमा राशियाँ भी सरकार की पूँजीगत प्राप्तियाँ मानी जाती है।
नकद साख	उधारकर्ता की वर्तमान संपत्तियों (कच्चे माल के भण्डार, अर्द्ध-निर्मित तथा तैयार माल) तथा प्राप्य हुंडियों आदि के आधार पर दिया गया उधार।
नकद निधि अनुपात	निवल मांग एवं सावधि जमाओं का वह अंश जिसे भारतीय रिजर्व बैंक के पास जमा रखना अनिवार्य है।
चक्रीय प्रवाह	अर्थव्यवस्था की गतिविधियों के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रों की परस्पर निर्भरता की चित्रीय अभिव्यक्ति।
व्यावसायिक राजस्व	सरकार द्वारा बेची गई वस्तुओं और सेवाओं से प्राप्ति, जैसे कि सार्वजनिक उपक्रमों द्वारा बेचे गए माल का मूल्य।
उपभोग फलन	उपभोग और आय के बीच संबंध।
स्थिर कीमतें	आधार वर्ष की कीमतें।
परिवर्तनशील सीमा बंध	वह व्यवस्था जो नियत विनिमय दर के गिर्द ±1% के परिवर्तन को स्वीकार करती है। फिर भी नियत दर में देश की विदेशी मुद्रा भण्डार स्थिति, मुद्रा की आपूर्ति और कीमत स्तर आदि के आधार कुछ-कुछ परिवर्तन होते रहते हैं।
सांख मुद्रा	वह मुद्रा जिसका मौद्रिक मान उसके निर्माण में लगी वस्तु के मूल्य से अधिक हो।
करेंसी (मुद्रा)	यह मुख्यत: कागज़ पर मुद्रित मुद्रा है- जैसे कि केंद्रीय बैंक द्वारा छापे गए नोट।
मुद्रा अधिमूल्यन	देशीय मुद्रा इकाइयों में विदेशी मुद्रा के मूल्य में कमी।
मुद्रा अधिकारी	देश में मुद्रा निर्गम के अधिकारी।
चालू जमाएं	बैंकों के पास चालू खातों में मांग देय जमाएं। इनका चैक द्वारा स्वतंत्रतापूर्वक आहरण हो सकता है। इन पर कोई ब्याज नहीं दिया जाता।

स्थगित भुगतान	भविष्य में किए जाने वाले भुगतान
मांग का अभाव	समग्र मांग का पूर्ण रोज़गार स्तर के उत्पादन से कम होना।
घाटे का बजट	बजट में अनुमानित राजस्व का अनुमानित व्यय से कम रह जाना।
अवस्फीति अंतराल	वास्तविक समग्र मांग तथा पूर्ण रोज़गार के लिए वांछनीय मांग स्तर का अंतर। यह समग्र मांग के अभाव का माप है।
मांग ऋण	ऐसा ऋण जिसे ऋणदाता जब चाहे वापस मांग सकता है। इसकी नियत परिपक्कवता अवधि नहीं होती। सारा ऋण एक साथ ऋणकर्ता के खाते में जमा कर दिया जाता है।
मूल्य ह्रास	वर्तमान पूँजी के उस अंश का मौद्रिक मान जो उत्पादन की प्रक्रिया में उपयुक्त हो गया (घिस गया)।
विकास व्यय	इस व्यय में रेलवे, डाक–तार एवं गैर-विभागीय व्यावसायिक उपक्रमों के आंतरिक व गैर–बजटीय संसाधनों से किए गए योजना व्यय सम्मिलित है। इन गैर-बजटीय संसाधनों में वित्तीय संस्थानों से लिए गए ऋणों के साथ-साथ केंद्र तथा राज्य सरकारों द्वारा दिए गए ऋण भी सम्मिलित होते हैं।
प्रत्यक्ष कर	व्यक्तियों की आय और संपत्ति पर लगाए गए कर। इनका भुगतान उन्हीं व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। उदाहरणत: आयकर, संपत्ति कर, निगम कर आदि प्रत्यक्ष करों के उदाहरण हैं।
लाभांश	कंपनी के लाभ का वह अंश जो इसके अंशधारियों को वार्षिक आधार पर दे दिया जाता है।
दौहरी गणना	किसी उत्पादन को एक से अधिक बार गिना जाना ही दौहरी गणना है। इसके कारण सकल घरेलू उत्पाद का मान अनावश्यक रूप से बढ़ा-चढ़ा प्रतीत होने लगता है।
द्वि-प्रविष्टि लेखांकन	लेखांकन का सिद्धांत जिसके अनुसार प्रत्येक राशि के स्रोत और प्रयुक्ति को पृथक-पृथक रूप से दर्शाया जाता है। जो राशियां भुगताई जाती हैं, उनके खर्च की मद अलग खाते में दर्शायी जाती है तथा प्राप्तियों की आगम मद अलग खाते में।
स्थायी प्रयोग वस्तुएं/ दीर्घोपयोगी वस्तुएं	वे वस्तुए जिनका उपभोक्ता लंबे समय तक उपयोग करता रहता है।
प्रभावी विनिमय दर	किसी मुद्रा की औसत सापेक्ष क्षमता (शक्ति) का मान।
संतुलन	समग्र मांग एवं समग्र आपूर्ति का संतुलन उस समय होता है जहां किसी कीमत स्तर विशेष पर समग्र मांग और आपूर्ति एक समान हो। इस बिंदु पर सभी वस्तुओं और सेवाओं का कुल उत्पादन उनकी मांग के समान होता है।

प्रत्यापतन/राजगमन	उत्तराधिकारी हीन व्यक्ति द्वारा वसीयत नहीं करने पर उसकी संपत्ति का स्वामित्व सरकार के पास चले जाना।
मांग आधिक्य	समग्र मांग का पूर्ण रोज़गार स्तर उत्पादन से अधिक होना।
साधन आय	उत्पादन के साधनों द्वारा अर्जित आय। उन्हें उत्पादन में योगदान के बदले प्रतिफल मिलते हैं। भूमि को लगान-भाड़ा, श्रम को मजदूरी, पूँजी को ब्याज तथा उद्यम को लाभ मिलता है।
साधन बाजार	उत्पादन के साधनों का बाजार।
फीस/शुल्क	सरकार द्वारा प्रदान सेवाओं की प्रति इकाई की लागत प्रतिपूर्ति हेतु भुगतान। यद्यपि ये सेवाएं सामाजिक हित में ही प्रदान होती है, पर इनके शुल्क चुकाने वाले को प्रयोग का विशेष अधिकार मिलता है: जैसे महाविद्यालय की फीस।
आदेश मुद्रा	सरकार के आदेश के आधार पर स्वीकृत मुद्रा।
न्यास मुद्रा	निर्गमकर्ता पर विश्वास के आधार पर स्वीकृत मुद्रा।
अंतिम/वास्तविक वस्तुएं	उपभोक्ताओं और फर्मों द्वारा वास्तविक प्रयोग के लिए खरीदी गई वस्तुएं। ये उत्पादन प्रक्रिया में आगे काम नहीं आतीं- फर्में इनका रूप आकार बदल कर आगे बेचती भी नहीं। ये पूर्णत निर्मित पदार्थ होते हैं जिनका केवल उपभोग या निवेश के लिए प्रयोग होता है।
वित्तीय मध्यस्थ/बिचोलिए	बचतकर्ताओं से धनराशियां संग्रह कर निवेशकर्ताओं को ऋण देने वाली संस्थाए। इनमें जमा स्वीकारक बैंक तथा अन्य गैर-बैंकिंग संस्थाएं- जैसे कि म्यूचुअल फंड, पेंशन फंड आदि सम्मिलित हैं।
जुर्माना/दण्ड	किसी नियम का उल्लंघन करने पर देय दंड राशि।
राजकोषीय घाटा	सरकार के कुल व्यय की राजस्व जमा गैर-ऋण पूँजीगत प्राप्तियों पर अधिकता। ये पूँजीगत प्राप्तियां अंतिम रूप से सरकार को मिलती हैं- इनकी वापसी का दायित्व नहीं होता।
राजकोषीय अनुशासन	राजस्व की राशि को देखते हुए व्यय पर नियंत्रण।
राजकोषीय नीति	सरकार की व्यय और कर नीतियां ही राजकोषीय नीतियां हैं।
वित्तीय वर्ष	भारत में 1 अप्रैल से आगामी 31 मार्च की अवधि को वित्तीय वर्ष माना जाता है।
सावधि जमाएं	इन जमाओं की परिपक्कवता अवधि नियत होती हैं- यह कुछ दिनों से कुछ वर्षों तक हो सकती है।

स्थिर या नियत विनिमय दर	इस व्यवस्था में देश की सरकार अपनी मुद्रा की विनिमय दर की घोषणा कर देती है। इस घोषित दर से बहुत मामूली उतार चढ़ाव ही मान्य रहते हैं।
नम्य विनिमय दर	इस व्यवस्था में सरकारी हस्तक्षेप बिल्कुल नहीं होता। विदेशी मुद्रा बाज़ार में मांग एवं आपूर्ति द्वारा ही विनिमय दर का निर्धारण होता है।
जब्ती या अपवर्तन	अनुबंध को भंग करने या आदेश का उल्लंघन करने पर न्यायालय द्वारा मूल बांड या प्रतिभूति को दण्डस्वरूप अपने अधिकार में ले लेना।
वायदा दर	विनिमय की वह दर जो भविष्य की किसी तिथि पर विदेशी मुद्रा के लेन-देन पर लागू होती है।
प्रतिरोधात्मक (घर्षण) बेरोजगारी	रोज़गार बदल रहे व्यक्तियों की अस्थायी बेरोज़गारी। एक काम छोड़ दूसरे की तलाश में कुछ समय लग ही जाता है। इस कारण कुछ लोग अस्थायी रूप से बेरोज़गार हो सकते हैं।
पूर्ण क्षमता मूर्त मुद्रा	वह मुद्रा जिसका वस्तुमान अंकित मान के समान हो।
पूर्ण रोज़गार संतुलन	अर्थव्यवस्था के समष्टि संतुलन की वह अवस्था जिसमें सारे संसाधनों का पूरा प्रयोग होता है।
सकल राष्ट्रीय उत्पाद अपस्फायक	सकल राष्ट्रीय उत्पाद की घटक वस्तुओं और सेवाओं की औसत कीमत। इसे मौद्रिक और वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुपात को 100 से गुना करके ज्ञात किया जाता है।
पूर्वोपाय	भविष्य में हानि की संभावना के जोखिम को न्यूनतम करने की कारवाई।
अपरिवर्तनीय मुद्रा	वह मुद्रा जिसका मूल्यवान धातुओं या अन्य आधारभूत परिसंपत्तियों में परिवर्तन नहीं किया जाता।
स्फीति अंतराल	समग्र मांग पूर्ण रोज़गार के लिए आवश्यक मांग से अधिक होना। यह मांग के आधिक्य का ही मापक है।
अंतर्वर्ती वस्तुएं	वह वस्तुएं जो अन्य वस्तुओं के उत्पादन में काम आती है- ये उत्पादन के एक चरण से दूसरे चरण में किसी वास्तविक वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त हो जाती है।
अप्रत्यक्ष कर	वस्तुओं और सेवाओं पर लगे कर। ये व्यक्तियों की आय और संपत्ति को उपभोग के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं।
वस्तु भण्डार	कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित माल और बिक्री के लिए तैयार उत्पादन का भण्डार।

निवेश मांग वक्र	निवेश मांग और ब्याज की दर के संबंध का चित्रण करने वाला वक्र।
विधि ग्राह्य मुद्रा	ऋण भुगतान के लिए विधि मान्य मुद्रा। यदि ऋणदाता इसे स्वीकार नहीं करता तो उसे कोई और विकल्प मांगने का अधिकार नहीं रहता।
अनुज्ञा (लायसेंस) शुल्क	सरकार द्वारा कुछ कार्य करने के अधिकार पत्र की प्राप्ति के लिए चुकाया गया शुल्क । यह शुल्क किसी सेवा की कीमत नहीं होता। इसके उदाहरण है वाहन के पंजीकरण का शुल्क या आग्नेशास्त्र धारण शुल्क आदि।
तरलता	मूल्यमान में हानि उठाए बिना किसी संपत्ति को तुरंत नकद मुद्रा में परिवर्तन कर पाना ।
एक मुश्त कर	ऐसे कर जो आय या अन्य आर्थिक चरों के साथ-साथ परिवर्तित नहीं होते।
M_1, M_2, M_3 तथा M_4	ये मुद्रा की आपूर्ति के चार मान है जिन्हें भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा परिभाषित किया गया है। M_1 से M_4 तक तरलता में निरंतर कमी आती है।
समष्टिअर्थशास्त्र	विस्तृत आर्थिक समुच्यों के अंतर्संबंधों का अध्ययन करने वाली अर्थशास्त्र की प्रशाखा।
प्रबंधित तरण	स्थिर और नम्य विनिमय दरों का सम्मिश्रण । इसमें मौद्रिक अधिकारी ऐच्छिक आधार पर विनिमय दर निर्धारण में हस्तक्षेप कर सकते हैं।
सीमांत उपभोग प्रवृत्ति	अतिरिक्त आय में से उपभोग पर व्यय की प्रवृत्ति।
सीमांत बचत प्रवृत्ति	आय में परिवर्तन होने से बचत में परिवर्तन।
व्यष्टिअर्थशास्त्र	अर्थशास्त्र की वह प्रशाखा जिसमें किसी फर्म द्वारा एक वस्तु सेवा का उत्पादन और किसी परिवार द्वारा एक वस्तु या सेवा पर व्यय का अध्ययन होता है।
न्यूनतम सुरक्षित निधि व्यवस्था	केंद्रीय बैंक द्वारा न्यूनतम सुरक्षित परिसंपत्ति भण्डार के आधार पर जितनी चाहे मुद्रा का निर्गमन।
मौद्रिक देयता/देनदारी	नोट निर्गमन के कारण केंद्रीय बैंक पर आया देनदारी का दायित्व। सारी निर्गमित मुद्रा को केंद्रीय बैंक की मौद्रिक देनदारी माना जाता है। इसका अर्थ होगा कि इस बैंक को मुद्रा के सममूल्य की संपत्तियों का आधार कोष बनाना चाहिए।

मौद्रिक नीति	मुद्रा, ब्याज दर, तथा साख की परिस्थितियों पर नियंत्रणकारी केंद्रीय बैंक की नीतियां। इनके नीतिगत अस्त्रों में खुले बाज़ार की प्रक्रियाएं, निधि अनुपात आवश्यकताएं और बैंक दर सम्मिलित हैं।
मौद्रिक मान	देश द्वारा अपनाया गया मुद्रा मान।
ऋण का मौद्रीकरण	नए-पुराने सरकारी ऋण के गैर-मौद्रिक दायित्व को केंद्रीय बैंक की मौद्रिक देनदारी (मुद्रा) में परिवर्तित करना।
मौद्रिक प्रवाह	आय के चक्रीय प्रवाहों में सभी संसाधनों को आय तथा उत्पादकों को वस्तुओं आदि के मूल्यों के भुगतान।
मुद्रा की आपूर्ति	किसी समय बिंदु पर सभी प्रकार की मुद्राओं की सकल आपूर्ति।
मौद्रिकता	मुद्रा के रूप में काम आ पाने के गुण।
नैतिक प्रबोधन	केंद्रीय बैंक की नीतियों का अनुसरण करने के लिए व्यावसायिक बैंकों को उपदेश और उन पर दबाव डालने की नीति।
गुणक	वह अंक जिससे निवेश परिवर्तन को गुणा करके आय में आये परिवर्तन का आकलन किया जाता है।
प्राकृतिक एकाधिकार	अतिविशाल स्तर पर उत्पादन की मितव्ययता के कारण एक बड़ी फर्म अनेक छोटी-छोटी फर्मों की तुलना में बहुत कम न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादन कर पाती है। ऐसे उद्योगों में रेलवे, विद्युत उत्पादन वितरण आदि को रखा जाता है।
मौद्रिक सकल राष्ट्रीय उत्पाद	प्रचलित बाजार कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन का मान।
मौद्रिक प्रभावी विनिमय दर	कीमत परिवर्तन के समायोजन से रहित किसी मुद्रा की सापेक्ष औसत क्षमता का मापक ।
गैर-विकास व्यय	इस वर्ग में प्रतिरक्षा, ब्याज भुगतान, कर-संग्रह, पुलिस आदि प्रशासनिक खर्च सम्मिलित हैं। सामान्य प्रशासन, पेंशन पुराने राजाओं को अनुग्रह राशि, अकाल सहायता, अनाज और कपड़े पर सहाय्य भी इसी में जोड़े जाते हैं। साथ ही विदेशों को ऋण, अनुदान तथा अन्य संस्थाओं को इसी प्रकार के कार्यों के लिए दिए गए ऋण आदि भी इसी वर्ग का अंग हैं।
गैर-स्थायी/अवीर्घोपयोगी वस्तुएं	इन वस्तुओं की उपयोग अवधि संक्षिप्त होती है।
गैर-बाजार वस्तुएं	इनका उपभोग संगठित बाजार में आए बिना ही हो जाता है।
गैर-योजना व्यय	ऐसे सार्वजनिक व्यय जिनके विषय में योजना प्रस्तावों में कोई प्रावधान नहीं होता। (इनका विकास और निवेश से संबंध आवश्यक नहीं होता)।

गैर-कर राजस्व	सरकार की वह राजस्व प्राप्तियां जिन्हें कर नहीं माना जा सकता।
खुले बाज़ार की प्रक्रियाएं	भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा बाज़ार में प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय। यह बैंक की मौद्रिक नीति का एक अस्त्र है।
अधिविकर्ष	ऋण देने की एक विधि, इसके अंतर्गत ग्राहक को, एक सीमा तक, अपने चालू खाते में जमा राशि से अधिक आहरण करने दिया जाता है।
कागजी मुद्रा मान	देश के मौद्रिक अधिकारियों द्वारा कागज की बनी मुद्रा को ही मानक मुद्रा के रूप में मान्यता।
समता मान	स्थिर विनिमय दर व्यवस्था में किसी मुद्रा की विनिमय दर को अन्य मुद्रा या स्वर्ण के रूप में नियत किया जाना।
दण्ड राशि	कानून भंग करने पर दण्ड स्वरूप चुकाई गई राशि।
योजना व्यय	वह सार्वजनिक व्यय जो विकास और निवेश के विभिन्न योजना प्रस्तावों के अनुसार किया जाता है।
प्रायोजित निवेश	वह राशि जिसे निवेश करने का विचार है। इसका निर्धारण निवेश मांग फलन द्वारा होता है।
प्रायोजित बचत	वांछित बचत स्तर, इसका निर्धारण बचत फलन द्वारा होता है।
कीमत सूचक	वह सूचक अंक जो नियत वस्तु संयोजन की औसत कीमत में समय बीतने पर आये परिवर्तन को अभिव्यक्त करता है।
प्राथमिक घाटा	राजकोषीय घाटा (−) ब्याज का भुगतान। इससे पता चलता है कि सरकार ब्याज चुकाने के अतिरिक्त कामों के लिए कितना ऋण ले रही है।
वचन पत्र	धारक को निश्चित राशि चुकाने के वचन का पुष्टिकारक पत्रक।
वास्तविक सकल राष्ट्रीय उत्पाद	स्थिर कीमतों पर सकल राष्ट्रीय उत्पाद।
वास्तविक प्रभावी विनिमय दर	स्थिर कीमतों पर आधारित विनिमय दर।
वास्तविक प्रवाह	आय के चक्रीय प्रवाहों में वस्तुओं और संसाधन सेवाओं के प्रवाह।
प्रतिनिधि मूर्तमान मुद्रा	यह पूर्ण मूर्त मुद्रा सिक्कों या उनके समान मूल्य के सोने, चाँदी की प्राप्ति स्वीकृति (पावती) के समान होती है। इसका अपने आय में कोई मूल्य नहीं होता किंतु यह ऐसी मुद्रा की प्रतिनिधि होती है जिसका वस्तु मान घोषित मौद्रिक मान के समान हो।
प्रतिनिधि सांकेतिक मुद्रा	यह सांकेतिक सिक्कों या उनके समान सोने-चाँदी की पावती पत्रक ही होता है।

संसाधन आबंटन	वास्तविक वस्तुओं के निश्चित परिमाण का उत्पादन करने के लिए अर्थव्यवस्था द्वारा अपने संसाधनों का विभिन्न उपयोगों में बंटवारा।
शेष विश्व	घरेलू देश को छोड़ विश्व के अन्य सभी देश।
राजस्व बजट	सरकार की राजस्व प्राप्तियों और उनके व्यय का विवरण पत्र।
राजस्व घाटा	सरकार के राजस्व व्यय की राजस्व प्राप्तियों से अधिकता।
राजस्व व्यय	सरकार के विभागों के सामान्य कार्यों, विभिन्न सेवाओं, ब्याज भुगतान तथा सहाय्य आदि पर व्यय। सामान्य रूप से वे सभी व्यय जिनसे प्रत्यक्षतः किसी उत्पादन परिसंपत्ति का सृजन नहीं होता।
बचत	आय का वह अंश जिसका उपभोग नहीं किया जाता, और जो कर भुगतान के काम भी नहीं आता।
बचत जमा खाता	इन जमा खातों में चालू और सावधि खातों के लक्षण मिले जुले होते हैं। इनकी राशियां मांगने पर और चैक द्वारा आहरणीय होती हैं- पर प्रतिमाह जारी चैक संख्या सीमित होती है। इनमें जमा राशियों पर ब्याज मिलता है।
बचत फलन	बचत और आय के बीच संबंध।
'से' का बाज़ार नियम	'आपूर्ति स्वयं अपनी मांग का सृजन करती है'। यदि वस्तुओं का उत्पादन होता है तो उनके लिए बाज़ार भी पैदा हो जाता है। दूसरे शब्दों में व्यापक अधिक उत्पादन की बाजार व्यवस्था पर आधारित अर्थतंत्र में कोई संभावना नहीं होती।
तलाश लागत	उपयुक्त वस्तु के विक्रेता को तलाशने पर आयी लागत। (इसे उस समय की अवसर लागत माना जा सकता है जो तलाश में व्यतीत हो गया, दूसरी दृष्टि से इसे तलाश की अवधि में वस्तुओं के गुण धर्मों में ह्रास और उनकी इच्छा में कमी का मान भी माना जा सकता है)।
चयनात्मक साख नियंत्रण	साख प्रवाह को विशेष क्षेत्रों की ओर मोड़ने के लिए बनाई गई नीतियां।
अल्प अवधि ऋण	छोटी अवधि के ऋण । ये व्यक्तिगत ऋण, काम चलाऊँ पूँजी ऋण या वरीयता क्षेत्रों को अग्रिम के रूप में होते हैं।
हाज़िर दर	विदेशी मुद्रा के हाज़िर बाज़ार की विनिमय दर।
मानक मुद्रा	वह विधि ग्राह्य मुद्रा जिसमें देश की सरकार अपने ऋण चुकाती है।

वैधानिक तरलता अनुपात	बैंकों को अपनी मांग और सावधि देयताओं का एक अंश निर्दिष्ट तरल संपत्तियों के रूप में रखना होता है। इनमें शामिल हैं: (क) अतिरिक्त नकद कोष, (ख) अन्य सरकारी/मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियां जिनके आधार पर रिज़र्व बैंक से ऋण नहीं लिया गया है, तथा (ग) अन्य बैंकों के पास चालू खातों में रखी गई राशियाँ।
सहाय्य	सरकार द्वारा उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों को क्रमशः उपभोग व उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए दी गई राशियां। उदाहरणतः गरीबी परिवारों के खाद्य उपभोग को बढ़ाने के लिए सरकार इन चीजों पर खर्च का एक भाग वहन कर सकती है (उन्हें बाज़ार भावों से सस्ते अनाज उपलब्ध करा सकती है)।
आधिक्य पूर्ण बजट	ऐसा बजट जिसमें अनुमानित राजस्व प्राप्तियां अनुमानित व्यय से अधिक हों।
कर राजस्व	सरकार द्वारा लगाए गए सभी करों और शुल्कों से प्राप्त राशियों का योग।
संकेत सिक्के	वे सिक्के जिन पर अंकित मान उनमें लगी धातु के मूल्य से अधिक हो।
व्यापार लागत	व्यापार (लेन-देन) करने की लागत।
अंतरण भुगतान	ऐसे भुगतान जिनके बदले कोई वस्तु या सेवा प्राप्त नहीं होती।
अल्प रोज़गार संतुलन	ऐसा संतुलन जहां सभी साधनों का पूरा प्रयोग नहीं हो पाता, कुछ साधन बेरोज़गार रह जाते हैं।
मूल्य वृद्धि	किसी फर्म के उत्पादन के मूल्य तथा अन्य फर्मों में खरीदे गए आदानों की लागत का अंतर। यह फर्म द्वारा अपनी उत्पादक गतिविधियों के माध्यम से मूल्य में की गई वृद्धि का मान है।
मज़दूरी कीमत नम्यता	ऐसी बाज़ार अवस्था जहां मज़दूरी दर तथा वस्तुओं की कीमतों में नम्यता होती है- वे तुरंत परिवर्तित होने को स्वतंत्र होती हैं। इस नम्यता के कारण श्रम और वस्तुओं तथा सेवाओं के बाज़ार सदैव संतुलित रहते है।
विस्तृत सीमा बंध	ब्रेटेन वुड्स व्यवस्था का एक संशोधित रूप, इसके अनुसार प्रत्येक सदस्य देश को उसकी घोषित विनिमय दर से 10 प्रतिशत तक उतार-चढ़ाव करने की छूट होती है। यह छूट भुगतानों में आसानी से समंजन कर पाने के लिए दी जाती है।

few years, the business of learning more about your field is never done, for every step forward makes new demands that must be satisfied if we are to have the courage to take it. If there is any doubt in your mind concerning how you should prepare yourself for the next step ahead in your program, it is a simple matter to communicate with educational leaders in some of our leading universities and with practical workers who have gained prominence in your selected field. They will be glad to advise you.

As you progress, you will find that most of the difficulties experienced in following your life's work are predictable. You can gain sufficient knowledge about your difficulties, so that even before they arise you can anticipate exactly what they are and how they can be met. With such knowledge you will be disappointed if the known difficulties do not present themselves, just as disappointed as a schoolboy who knows his lesson but who is not called upon to recite. Just as disappointed as a hunter who goes after dangerous game, fully prepared, but who comes back without getting a chance to use his trusty gun.

Knowledge will change your entire mental atti-

tude toward the obstacles that stand in your way. Instead of permitting difficulties to terrorize you and fill your mind with fear, you will look upon a difficulty merely as a challenge that it's fun to meet and overcome.

LEARN HOW TO WIN COOPERATION OF OTHERS

No matter how well informed you may become, no matter how much knowledge you acquire in your chosen field, it is well to remember that very few have ever accomplished much or gone far in any line of human endeavor, without the assistance and cooperation of a great many people. Friends, relatives, employers, business associates, superiors, subordinates, customers, tradespeople, nearly everyone you contact, can speed or retard your journey toward your goal.

Charles M. Schwab is credited with the statement that "many of us think of salesmen as people traveling around with sample kits. Instead, we are all salesmen, every day of our lives. We are selling our ideas, our plans, our energies, our enthusiasm to those with whom we come in contact."[1]

In selling your ideas to other people in such a

[1] *Strategy in Handling People,* by Ewing T. Webb and John Morgan. Garden City Publishing Co., 1930.

way that they will cooperate and do what you want them to do, there are at least three important principles to be remembered.

In the first place, you must understand how to get people to like you. Much can be learned by studying the methods by which leaders in various fields have been successful in getting others to like them.

Lord Chesterfield wrote to his son, "Make other people like themselves a little better, my son, and I promise you they will like you very well."

It has been said of John Hay that "every person who spent a half-hour or more with him was sure to go away not only charmed with Hay, but uncommonly well pleased with himself."[2]

My little niece, just eight years old, told me, confidentially, "I say thank you to people and am very polite, because when you are polite, people like you and then they give you things."

It is a commonplace that all of us like people who permit us to talk about those things which interest us most. And so, if you would have others

[2] *Notes and Anecdotes of Many Years*, by J. B. Bishop. Charles Scribner's Sons, pp. 60-61.

like you, it is wise in your initial contacts with them, to make yourself interested in what they are trying to do, and to ask questions that will get them talking about themselves.

When Dwight Morrow went to Mexico as ambassador, the situation was tense. The first call on President Calles was very ticklish. "Morrow had nothing to say about the weighty problems with which ambassadors are supposed to deal," writes Bruce Barton.[3] "He just passed back for more pancakes, praised the cooking, lit a cigar, and asked the President to tell him about Mexico. . . . Next day President Calles said to a friend that here at last was an ambassador who talks his own language."

Sometimes the most effective method for engaging others in conversation that they will enjoy is to ask their help and advice.

Just remember—and be frank enough to admit it to yourself—that the greatest desire in your heart is to enlarge your self-importance and to make a favorable impression when you are talking with other people. You enjoy your contacts

[3] *Collier's*, August 4, 1928, p. 82.

most with people who will permit you to do this. Now consider for a moment that everyone in the world is the same as you are in this respect, and you will readily understand why anyone will thoroughly like you providing you give them the opportunity to assert themselves. Let that be your starting-point. Be patient. In due time they will give you an opportunity to have your say, and they will be much more likely to accept what you say if they like you.

In the second place, you are much more likely to win cooperation if you form the habit of presenting your case from the other person's point of view. In your enthusiasm to communicate your own ideas you are quite likely to neglect to build up your proposal from the other person's center of interest, and to forget that your main job is to begin with something that the other person wants, and then proceed to show him how, by following a given procedure, he can get what he wants. Napoleon was a master of this strategy.[4] When he took command of the army of Italy, at the age of twenty-five, his appeal to the soldiers was in terms

[4] *Napoleon*, by Emil Ludwig. Liveright, 1926.

of tangible things which they wanted. "Soldiers, you are half-starved, half-naked. . . . I will lead you into the most fertile plains of the world. There you will find flourishing cities, teeming provinces." Later, he addressed his men as heroes, saying, "You will return to your homes, and your neighbors will point you out to one another, saying, 'He was with the army in Italy.' "

Some men whom you contact will want money. Some will want titles. Some social prestige. Some the approval of others. Some fame. And in every case it is worth while to diagnose the fundamental want of the other person, and then to translate whatever you want him to do into a fulfillment of this basic desire.

In the third place, we all know that in sales work, winning an argument does not necessarily get an order. And in our day-to-day relations with friends and associates we do not usually get a person's cooperation or support by proving conclusively that he is wrong. When we undertake to argue a person down on an objection that he has raised, we are, in a sense, performing only a negative task. For even though we succeed in answer-

ing a lot of objections without engendering the other person's ill will, we still have the job of communicating the positive reasons why he should do as we wish. By letting the other person do the talking to begin with, we can anticipate any possible objections to the things we wish him to do, and we are then able to build our own case in such a way that we further the other person's interests and yet avoid his objections wherever possible.

It is an old adage that the best way to win an argument is to avoid it entirely. But we may as well admit that situations do arise when it becomes necessary to meet and overcome the resistances and objections offered by others. And it is worth while bearing in mind the following principles,[5] which, if followed, will help to bring the other person over to our point of view when such a situation arises.

1. Don't try to do all the talking yourself.
2. Don't interrupt your opponent (no matter how clever your comeback may be, or how impatient you are to use it).

[5] *How to Win an Argument,* by Richard Borden and Alvin C. Busse. Harper & Brothers, 1926.

3. Avoid an argumentative attitude that is belligerently positive.
4. In the first half of an argument, inquire rather than attack. You draw out the heaviest ammunition of your opponent, you show him that you are receptive to his arguments and sympathetic, and you thereby deserve a hearing of yours.
5. Restate clearly and vigorously in your own words the gist of each argument your opponent advances—as soon as he advances it. By stressing your opponent's points, you show that you recognize them and relieve him of the necessity of restating them in three or four different ways.
6. Identify your main argumentative attack with one key issue. Then stick to that issue. Don't digress.

MOVE INTO YOUR CHOSEN FIELD

If you continue to devote a reasonable share of your spare time in an organized effort to gain knowledge in your chosen field, sooner or later you will reach the point when you are ready to

seek a full-time position in that field. This is the most critical point in your entire program. Even though you have gained sufficient knowledge to make the move, you will tend to put it off. Human inertia is a powerful retarding force, and ordinarily we have to get on a pretty hot spot before we will actually make a major move of any kind.

When I drove this point home to a young man, he came back with a story which illustrates it far better than I could.

"When I was a kid back on the farm," he told me, "we had a dog, and, like most dogs, he liked to lie in front of the fire. It was one of my chores to get up in the morning and start the fires in the kitchen stove and in the fireplace in the dining-room. Every morning, our mut would follow me into the dining-room and plant himself about three feet in front of the fireplace. As soon as the fire got started and warmed him up a little, he would fall into a doze. I used to sit there in a chair and watch him. After a while the logs would begin to throw out some real heat. But that mut wouldn't move. Every now and then he would rouse himself enough to growl at the fire. Then he'd doze

off again. Then he'd growl, and doze, and growl, and doze. As the fire got hotter, he'd growl and *snap* and doze. But not until the fire got so hot that it almost singed the hair on his starboard side, would he move back to improve his position."

It is unfortunate that most men in the wrong job continue to doze and growl and snap, but conditions never get quite hot enough to force them to do anything about it.

You might as well recognize in advance that the *first* full-time job in your selected field will probably not be exactly the job you want. You may have to sacrifice some income, many conveniences, and perhaps even a measure of pride, at least temporarily.

After Herbert Hoover had finished his university studies in the field of engineering, he applied for his first job only to find there were no engineering jobs open. But in the course of his conversation with a prospective employer he learned that there was an opening for a typist in this engineering firm. Hoover said he'd take the job, asking if he might report for work four days later. He didn't know anything about typing, but

in the four days of concentrated study and practice he gained sufficient knowledge and speed to be able to hold down the job. Hoover's main objective was to get a job with an engineering firm and he wasn't too proud to start in as a typist, if necessary.

An office clerk I know, interested in music, studied the trumpet in his spare time and finally reached the point where he was ready to seek a full-time job with an orchestra. He persuaded the leader of a traveling band that was in his town on a one-night stand, to give him a tryout. There was no opening with that band, but the leader was so impressed with this young man that he suggested his name to the head of another orchestra, not so well known, who needed a trumpet-player.

When this young man received an offer to join the second-rate orchestra, it wasn't an easy matter to leave the soft job he had as a clerk, give up his home life, and take his wife along to travel from one small town to another on one-night stands. But he did it. Today he is with one of the country's leading bands, and after a few more years of background he plans to start his own school of music.

When the men's-clothing salesman, interested in physical education, took a job as janitor at a city playground, his social standing suffered a slight, but only temporary, relapse.

But these men, along with the others I have mentioned, realized that the advantages of getting a start, however low, in their favorite line of work, overbalanced the temporary sacrifice of income, convenience, or pride. Their eyes were fixed not on the immediate job, but on the ultimate realization of their main objective.

In seeking a full-time job in your chosen field there are a few simple fundamental rules to be followed. You are probably familiar with all the rules that I shall mention. But I remind you of them simply because most men do not follow them:

In making your contacts with the organization you would like to join,

1. Take the time to acquaint yourself with the problems of that organization as they affect the use of your services.
2. Locate the one man in that organization who can use you and who has the authority to

hire you. Make it your business to see him.

3. Imagine yourself in his position. Talk to this man about *his* business problems, from his point of view, not yours.
4. Show him why you are interested in these problems, and how your services can be used.

If this man feels that you can help him, you need not ask him for a job. He will invite you to join the organization. Naturally, the first organization you select may not be able to use you. But if you are really prepared and see enough prospects, the desired opportunity will come.

If you are already employed, there are a few simple rules to be followed in shifting from your present job to your selected field:

1. Whenever possible, do not leave your old position until you have definitely secured a new one. An employed man is in a stronger trading position than a man who is out of work.
2. Tell your superior that you are contemplat-

ing a change. He will appreciate your asking him for advice and taking him into your confidence.

3. Give him the real reasons for your desire to change, so that he will clearly understand that your leaving is no reflection on him or your present position, that the change is being made merely because you seek an opportunity to get into your chosen field.
4. Ask his advice about approaching the organization which you are interested in negotiating with. He may have some personal contacts that will help you. Even if he hasn't, his suggestions and personal endorsement will mean a great deal.

The following case illustrates the practical application of the rules I have mentioned.

A man in his thirties (we shall call him Bob Irwin, though this was not his real name) was a bank teller, but he didn't like it. One vacation, he visited an uncle in Richmond. He became interested in the tobacco business. For a year he talked tobacco to every friend he met. He asked them

whether they smoked or not. He found out what they smoked—pipe, cigarette, or cigar. He asked them if they chewed tobacco. He asked them what they liked or disliked about the brands of tobacco they used, how long they had been using them, what brands they used to use, why they quit. He took notes. He read books on the subject. He followed articles in sales and advertising journals by leaders in the tobacco business. He watched their advertising.

Just prior to his vacation period the following summer, he got an idea for a leading cigar manufacturer in his own city. His next problem was to get to see the right man in that organization, which isn't always easy to do. But here's the way he worked it out!

He telephoned the company and asked the telephone girl for the name of the general sales manager, learned that his name was Ingram, and asked to speak with him. The operator connected him with Mr. Ingram's secretary.

"But what did you want to speak with Mr. Ingram about, Mr. Irwin?" she asked.

"You tell Mr. Ingram that I want to talk with

him about cigars," Irwin said in a quick, firm voice.

"Yes, but can't you give me a more definite idea than that? What company are you with? Does Mr. Ingram know you?"

"You just tell him that Mr. Irwin wants to talk with him about cigars."

"Just a moment."

Presently Irwin heard a click and a deep voice bawled out, "Yes, what is it?"

"Mr. Ingram?"

"Yes, what is it?"

"I am Mr. Irwin. You don't know me, Mr. Ingram, and I've never had the pleasure of meeting you. But I'm very much interested in the cigar business and I'd like to come in and talk with you. I'm a teller at the X bank, but I could stop by any day around noon or after four-thirty."

"Well, I am very busy right now. What is it about? Just what is it you want to talk about?"

"I want to talk with you about that five-cent cigar that your company makes. Within the last few weeks I have talked to some men who used to smoke it, but have discontinued it. I knew you'd

be interested in this, and I want to talk with you about the reasons they gave me for quitting it."

"I see. Well, I can't see you today. Call me sometime next week."

So Irwin called him the following Wednesday and Mr. Ingram said: "Call me tomorrow at noon. Perhaps I can see you for a few minutes tomorrow."

Irwin called personally the next day at noon.

As soon as he got into Mr. Ingram's office and had introduced himself, he led off with the following conversation:

"I want to tell you how I came to talk with these men about cigars. I have been interested in the tobacco business ever since I visited an uncle of mine down in Richmond. Since then I have been pestering all my friends with questions about what kinds of tobacco they use, and why, what they used to use and why they quit, and all that. I guess I've talked with at least one hundred cigar-smokers and about fourteen of them used to smoke that five-cent cigar that you people make, but they've discontinued it because they say it's not so good as it used to be. I was wondering if you

have changed it in any way. How are the sales on that brand in different parts of the country?"

MR. INGRAM: "Well, we're not exactly satisfied with our sales in some locations. There's one spot out there in the Middle West around Cleveland that hasn't been going so well."

IRWIN: "I wonder why."

MR. INGRAM: "I don't know. Do you?"

IRWIN: "No, *I* don't. But some of your past customers out in Cleveland probably know."

MR. INGRAM: "Say, what are you driving at? What did you come in to see me about?"

IRWIN: "I'm planning to get into the cigar business. And I'm always interested when somebody tells me that sales are off in a certain territory. There's got to be a reason for it. There's some reason why those people out in Cleveland aren't buying that cigar. Week after next my vacation begins. I'd like to go out to Cleveland for you. I know I could find out something."

MR. INGRAM: "Why, man, you don't have to go out to Cleveland! We have three members of our sales force out there."

IRWIN: "Yes, but they are salesmen. They have

their selling job to do. They probably couldn't take the time to dig into an analysis of that market. Another thing—could they detach themselves enough to find out what your customers really think about your cigars and to get a strictly impartial picture of the situation in Cleveland? Salesmen are usually pretty close to their jobs; maybe an outsider could get some slants that they are overlooking."

After that interview, Irwin told the whole story to his superior at the bank—what he wanted to do, why he wanted to make a change. The outcome of the whole matter was that Irwin's boss highly recommended him to Mr. Ingram, who then decided to let him go out to Cleveland for a few days during his vacation. There he succeeded in locating some of the company's former customers, and he listened while they told him why they no longer bought this brand of cigar. The general objection was that the cigar was stronger than it used to be. Some of those interviewed even called it bitter.

When Irwin came back with his story, Mr. Ingram got in touch with the factory and found

that they had made a very slight change in the filler of the cigar, believing that they were improving it by giving it "more character." But further interviews with consumers proved that they did not look upon it as an improvement. The company went back to the same old filler. Irwin was offered a regular job in the sales department. Then he resigned at the bank.

"Yes," you may say, "that worked all right in Irwin's case, but it doesn't apply to mine. My case is different." And that's true. Throughout the entire discussion no example offered could possibly fit all cases. In fact, there has been no attempt to solve your problem for you. You alone can do that.

You alone can decide to do what you want to do. You alone can free yourself from the common excuses. You alone can make your plans and get started. You alone can follow through. In this book are found merely the steps, the principles, the rules to be followed in working out your own case.

I salute you as you set out on the glorious adventure of doing what you want to do, with the knowledge that nothing can stop you from becoming the man you know you can be!

INDEX

INDEX

INDEX